ह्रीं

Nirvan Jayanti
Special 1996

मालिनी

THE MALINI

ISHWAR ASHRAM TRUST

Nirvana Jayanti Special, 1996

मालिनी

THE MALINI

Abhinavagupta about Mālinī

यन्मयतयेदमखिलं, परमोपादेयभावमभ्येति।
भवभेदास्त्रं शास्त्रं, जयति श्रीमालिनी देवी।।

Śrī Mālinī Devī is ever victorious. In union with her all the treatises of non-dualistic order achieve the nature of divine potency.

T.A.A. XXXVII

ISHWAR ASHRAM TRUST
ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Board of Trustees :
Sri Inder Krishan Raina
(Secretary/Trustee)
Sri Samvit Prakash Dhar
Sri Brij Nath Kaul
Sri Mohan Krishan Wattal

Editorial Board :
Sushri Prabha Devi
Prof. Nilakanth Gurtoo
Pandit Janki Nath Kaul 'Kamal'
Prof. Makhan Lal Kukiloo
Sri Som Nath Saproo
Sri Vijay Kumar Kaul
(Co-ordinator)

Publishers :
Ishwar Ashram Trust
Ishber (Nishat), Srinagar
Kashmir.

Administrative Office :
2-Mohinder Nagar
Canal Road
Jammu Tawi - 180002.
Tel. : 555755

Branch Office :
Ishwar Ashram
10/12A DLF Qutub Enclave Phase-1
Sikandarpur, Gurgaon (Haryana)
Tel. : 8-351018

30th September, 1996
Price : Rs. 30.00

© Ishwar Ashram Trust

Produced on behalf of Ishwar Ashram Trust
by Paramount Printographics, Daryaganj, New Delhi-2. Tel 328-1568, 327-1568

ॐ नमः परमसंविद् चिद्वपुषे

विषय सूची : Contents

सम्पादक की लेखनी से			4
1.	Kuṇḍalinī Vijñāna Rahasyam	*Sh. Svāmī Lakṣmaṇa Joo*	6
2.	Purpose of Gītā according to Śiva View	*Sh. Svāmī Lakṣmaṇa Joo*	12
3.	Kashmir Śaivism	*Sh. Svāmī Lakṣmaṇa Joo*	14
4.	My Acquaintance with Svāmī Lakṣmaṇa Joo	*Prof. A. N. Dhar*	23
5.	I am not this body	*Sh. J. N. Kaul Kamal*	30
6.	Tantricism in Kashmir	*Ācārya D. N. Shastri*	34
7.	Svāmī Lakṣmaṇa Joo Raina	*Recollections of a foreign devotee*	43
8.	Kuṇḍalinī yoga	*Sh. J. N. Kaul*	48
9.	अमृतसंदेश	स्वामी जी महाराज	50
10.	शिवसूत्र समीक्षात्मक विवेचन	*Dr. B. N. Pandit*	52
11.	वासना	*Sushri Śārika Deviji*	63
	(हिन्दी रूपान्तर)	*Prof. M. L. Kukiloo*	64
12.	शैवदर्शन के वातायन से	*Prof. N. K. Gurutoo*	65
13.	पूर्व स्मृति के सुवर्ण क्षणों की प्रत्यभिज्ञा	*Smt. Prabha Deviji*	69
14.	Awareness	*Shri D. N. Ganjoo*	71

सम्पादक की लेखनी से

परमआदरणीय सद्गुरुमहाराज ईश्वरस्वरूप जी की पांचवी निर्वाण जयन्ती के अवसर पर मालिनी का निर्वाण जयन्ती विशेषांक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। बिछुड़न की इस लम्बी अवधि में न जाने हमने कौन कौन से राग अलापे पर हमारे हृदय की तन्त्री उनके स्मरण की राग को छोड़ कर अन्य किसी झंकार से झंकृत न हो सकी। उनके आकार-प्रकार, शयनजागरण, पानाहार, गमनासन, स्वाध्यायाध्यापन और ध्यानसाधना आदि नाना गतिविधियों की स्मृति रेखाओं से मानसपट पर जो उनकी छवि अंकित हुई थी, उसका प्रमार्जन असमय की बदली प्रबल वर्षा के थपेड़ों से मिटाये भी नहीं मिटा सकी। हृदय में गढ़ा उनके राग का शूल जरा सी सिहरन से व्यथा के अनगिणत संस्मरण उकेरता है। बीते दिनों का संयोग आनन्द तरंगों की उछालों के साथ साथ राका में सागर की उबाल की तरह हृदय तट को मथित किये विना नहीं रहता। उनके उपदेशामृत के वाक्य ममत्व की दावा से झुलसी हुई मनस्थली को प्रावृट् की वर्षा की तरह आसिंचन कर शान्त करके ही रहते हैं। उनके कृपा कटाक्षों की चन्द्रिका जन्मजन्मान्तरों से संचित वासना मरूस्थली में शीतलता की छाया बिखेर कर अमृतवर्षा से आह्लादित करती है। अस्तु, उनके भौतिक विरह की यह अवधि आत्मिक उन्नति के लिए नन्दनवन की कल्पलता की तरह प्रत्येक सिद्धि प्रदान करने की क्षमता रखती है। श्री गुरुदीक्षा के सततचिन्तन और "सोऽहं" परामर्श की भागीरथी में आपादमस्तक मज्जन कर कर ही हम सद्गुरुमहाराज के अनिर्विचनीय ऋण से उऋण हो सकते हैं। आज की यह निर्वाण जयन्ती सद्गुरु महाराज के सारे प्रियशिष्यों और भक्तों के लिए परस्पर वैमनस्य को मिटाने में और तात्त्विक गुरुभ्रातृभाव को अहर्निश वृद्धि करने में वरदा हो।

पुनीत पर्व पर प्रकाशित इस विशेषांक को सद्गुरु महाराज के अमृतवाक्यों की सुखदा वर्षा से सींचा, व पाला पोसा गया है। इनसे प्रस्फुटित परमास्वाद नवनव प्रयोजन को बिखेरता हुआ इस बात को ओर संकेत करता है कि सद्गुरुमहाराज की भाव शृंखला कहां से आरम्भ होकर कहां विश्रान्ति पाती है। इनके अगाध विचार गाभ्मीर्य में सरीखा तैराक भी डुबकियां लेने को विवश होता है। एक ओर से सद्गुरु महाराज का 'कुण्डलिनीविज्ञान' पर प्रवचन गूढ़ अनुभूतियों का परम निदर्शन है तो दूसरी ओर से गीता का महत्व शैवी दृष्टिकोण के दायरे में सूत्रात्मकरूप में आंका गया है। कश्मीर शैवदर्शन नामक उनके एक और लेख में कश्मीर शैवसाहित्य की ऐतिहासिक पृष्टभूमि का दिग्दर्शन कराने के साथ इस दर्शन की कई सैद्धान्तिक गुत्थियों को भी सुलझाने का प्रयास किया गया है। इतना ही नहीं, आज से लगभग दो दशक पहिले, एक दार्शनिक संस्था के विशेष उत्सव पर गुरु महाराज ने विविध

भव पुष्प उपस्थित विज्ञ श्रोताओं की झोली में जो सहेजे हैं, वे चयन को योग्य हैं। सारांश यह कि इनकी व्याख्यात्मक शैली लौकिक न होकर अलौकिक रंगों में रंग कर रंगीन माहौल को समय समय पर प्रकट करने में कोई कसर बाकी नहीं रखती थी। इस सुरभित कानन में चले पुराने पौधों के संग संग कुछेक नवीन पौधों ने भी आज अपना बहार दिखा कर सहृदय समाज को आनन्दित किया। उनका यह योगदान स्मरणीय है। हमें आशा है कि यह कस्तूरी उन्हें बार बार अपनी ओर आकर्षित करेगी और अपनी मोहक सुरभि से चिरतृप्त किये विना नहीं छोडेगी।

इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि प्रस्तुत विशेषांक के मुखपृष्ठ का नवीन कलात्मक रचना विन्यास, साजसज्जा आदि तथा पांच सौ अतिरिक्त प्रतियों के प्रकाशन का कार्य सद्गुरु महाराज के एक परमभक्त शिष्य के निर्देशानुसार सम्पन्न किया गया। उनके इस अतिरिक्त प्रकाशन कार्य के लिए दिये गये गुप्त आर्थिक अनुदान के लिए ईश्वरआश्रम ट्रस्ट के अधिकरी परम आभारी हैं और आगे भी उनके सहयोग के प्रार्थी हैं। सद्गुरुमहाराज उन्हें अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता करें। श्री कुलार्णव तन्त्र में कहा है कि–

भक्त्या वित्तानुसारेण गुरुमुद्दिश्य यत् कृतम्।
अल्पे महति वा तुल्यं पुण्यमाढ्यदरिद्रयोः॥

मालिनी के कुछेक अंकों में हमने 'वातूलनाथ सूत्र' के प्रकाशन के विषय में उल्लेख किया था। पर मालिनी के प्रति पाठकों के बढ़ते हुए उत्साह के फलस्वरूप प्रकाशन सामग्री की बहुलता उक्त पुस्तक के प्रकाशन को मालिनी में प्राथमिकता न दे सकी। अतः पाठकों के अनुरोध पर श्री अनन्तपाद की संस्कृत टीका तथा सद्गुरु महाराज के अंग्रेजी अनुवाद के साथ स्वतन्त्र पुस्तकाकार में इस अप्राप्य शैवग्रन्थ के प्रकाशन की अनुमति देकर ईश्वर आश्रम ट्रस्ट के अधिकारी धन्यवाद के पात्र हैं। निर्वाण जयन्ती के अवसर पर इस पुस्तक का विमोचन विशेष महत्व रखता है। श्री सद्गुरु महाराज की हम सब पर दया दृष्टि रहे, इस ध्येय प्राप्ति के लिए हमें उनके ही उपदेश आदेश का चिन्तन व स्मरण सदा करते रहना चाहिए –

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् जाग्रज्जपन् जुह्वत् प्रपूजयेत्।
गुर्वाज्ञामेव कुर्वीत तद्गतेनान्तरात्मना॥

"Whether moving or standing, sleeping or walking doing Japa or offering oblations and worshiping, carry out only the injunctions of the Guru with your inner being dwelling in him."

Jai Gurudev

(३०.९.१९९६) आश्विन कृष्ण चतुर्थी — **प्रो० मखनलाल कुकिलू**
सद्गुरु निर्वाण जयन्ती दिवस

कुण्डलिनीविज्ञानरहस्यम्॥
Kuṇḍalinīvijñāna Rahasyam

Iśvara Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇ Joo Mahārāj

Continued from last issue

अथ प्राणकुण्डलिनीस्वरूपं निर्णीयते।

(Atha prāṇa-kuṇḍalinī svarūpam nirṇīyate)

अथ (Atha) now, प्राणकुण्डलिनीस्वरूपं (Prāṇa-kuṇḍalinī svarūpam) the nature of Prāṇa-kuṇḍalinī. निर्णीयते (Nirṇīyate) I will explain.

चिच्चमत्कृतिरूपा विसर्गशक्तिः।

(Ciccamatkṛtirūpā visargaśaktiḥ)

चित्विसर्गशक्तिः (Cit-visargaśaktiḥ) the creative energy of Lord Śiva, चमत्कृतिरूपा (Camatkṛtirūpā) is filled with the taste of Her consciousness.

स्वात्मनः स्वात्मनि स्वात्मक्षेपो वैसर्गिकी स्थितिः।

(Svātmanaḥ svātmani svātmakṣepo vaisargikī sthitiḥ) *(Tantrāloka III-141)*

स्वात्मनः (Svātmanaḥ) from one's own self, स्वात्मनि (Svātmani) in one's own self, स्वात्मक्षेपो (Svātmakṣepo) to create one's own self. वैसर्गिकी स्थितिः (vaisargikī sthitiḥ) the nature of visarga-śakti.

To create the self from the self in the self is the reality of creative Energy. Thus creating 'self' in 'self' from 'self' is the definition of creative energy.

इत्याचार्याभिनवगुप्तपादोक्त्या स्वात्मन्येव विसर्गस्योन्मेषदशां परामृशन्ती प्राक्संवित्प्राणे परिणतां इति नयेन प्राणनरूपतां चावभासयन्ती प्राणकुण्डलिनीरूपतयागमेषु निरूपते।

(Ityācāryābhinavaguptapādoktyā svātmanyeva visargasyonmeṣadaśām parāmṛśantī prāka samvitprāṇe pariṇatā itinayena prāṇanarūpatām cāvabhāsayantī prāṇkuṇḍalinī rūpatayāgameṣu Nirūpyate)

इत्याचार्याभिनवगुप्तपादोक्त्या (Ityācāryābhinavaguptapādoktyā) this is the statement of Ácārya Abhinava Gupta pāda that स्वात्मन्येव विसर्गस्योन्मेष दशां परामृशन्ती (Svātmanyeva visargasyonmeṣa daśām parāmṛśantīm) when

Kuṇḍalini experiences the state of the creative energy of consciousness in Her own nature then, 'प्राक् संवित्प्राणे परिणतां' इति नयेन प्राणनरूपतां चावभासयन्ती (Prāka Samvitprāṇe pariṇatā iti nayena Prāṇanrūptām cāvabhāsayantī) as described by kallata, in the very beginning of creation, breath (prāṇa) comes forth as the first creation. When the god consciousness flows out in the creative cycle, she takes the formation of that breath which is not this inhailing and exhailing breath but (Prāṇana) i.e. vibrating breath. When a woman conceives a child that child is first produced with this vibrating breath. At that time there is no actual breathing, there is only life. That is vibrating breath. प्राणन् (Prāṇana) प्राणकुण्डलिनीरूपतयागमेषु निरूप्यते (Prāṇana Kuṇḍalinī rūptayāgameṣu nirūpyate) when this creative Energy (visargaśakti) has taken the form of vibrating breath the scriptures tell us that this breath is in the form of Prāṇakuṇḍalinī.

यद्यप्यस्यां प्राणकुण्डलिनीरूपायां विसर्गशक्तौ प्राणनरूपत्वात्
बहिर्भावावभासनात्मिका स्थितिर्दृश्यते, तथाप्यत्र प्राणादि
पञ्चवाहस्यानुन्मीलनात् स्वात्मानन्द चमत्कृतिमयत्वमेव सर्वतः: प्रवर्तते।

(Yadyapyasyām Prāṇa kuṇḍalinī rūpāyām visargaśaktou prāṇana rūpatvāta bahirbhāvāvabhāsanātmikā sthitirdrśyate, tathāpyatra prāṇādi pañcavāhasyānunmīlanāta svātmānanda camatkṛtimayatvameva sarvataḥ pravartate)

Though in this creative energy of Lord Śivā, supposed to be the state of Prāṇa Kuṇḍalinī, it takes the formation of that vibrating force of breath then the blissful state of one's nature appears. In the next movement of this vibration the five states of breath namely प्राण (Prāṇa) अपान (Apāna) समान (Samāna) उदान (Udāna) व्यान (Vyāna) take the formation of प्राणनशक्तिः (Prāṇanaśaktiḥ). At this stage, however, these five breaths are not yet manifested because of this in this state of Prāṇakunḍalinī only the blissful state of one's nature appears.

1. प्राण (Prāṇa) - breathing in and out.
2. अपान (Apāna) - It exists when in bathroom we push out stool or urine.
3. समान (Samāna) is that breath which keeps our nerves in real position and all vital channels in balance.

4. उदान (Udāna) is the breath which digests the food in our body.
5. व्यान (Vyāna) is the breath that stimulates all this and directs it with vibrating force.

इयमेव प्राणकुण्डलिनीरूपा चितिशक्तिर्विसर्गस्यादिकोट्यात्मनि स्वरूपे स्फुरतीति कौलयौगिभिरनुभूयते।

(Iyameva prāṇa kuṇḍalinīrūpā citiśaktirvisargasyādikotyātmani svarūpe sphuratiti koulayougibhira nubhūyate)

इयमेवचितिशक्तिः (iyameva citiśaktiḥ) This energy of consciousness प्राण-कुण्डलिनीरूपा (Prāṇa kuṇḍalinīrūpā) which is in the form of prāṇa kuṇḍalinī विसर्गस्यादि कोट्यात्मनि स्वरूपे स्फुरतीति (visargasyādikotyātmani svarūpe sphuratīti) appears in the first state of the creative pulse, कौलयोगिभिरनुभूयते (koulayougibhiranubhūyate) it is experienced by Śaiva yogis.

अत्रतु स्वानुभवसारमपि किञ्चिन्मया वर्ण्यते।

(Atratu Svānubhava sāramapi kiñcinmayā varṇyate)

Regarding this Prāṇa kuṇḍalinī I shall explain you according to my own experience.

तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण चन्द्रसूर्यावुभावपि
सौषुम्नेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम्।
तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः॥ *(स्पन्द-२४-२५)*

(Tāmāśrityordhva mārgeṇa candra sūryāvubhavapi
souṣumneadhvanyastamito hitvā brahmāṇdagocaram
tadātasmina mahāvyomni pralīna śaśibhāskare
souṣupta padavanmūḍaḥ prabuddhaḥ syādanāvṛtaḥ)

According to verses 24 and 25 of स्पन्दकारिका 'Vasugupta' explains the centre of the two breaths is the way. Through this way we will gain entry in rising. In ordinary life this way is closed and blocked, but it opens when prāṇa kuṇḍalinī occurs. When that supreme Energy of consciousness is concentrated in ऊर्ध्वमार्ग (Ūrdhvamārga) - the centre, we get entry in going high in rising. When we concentrate continuously without any break on that ūrdhvamārga - the centre, चन्द्र सूर्यौ उभौ अपि (Candra Sūryou ubhou api)

श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज

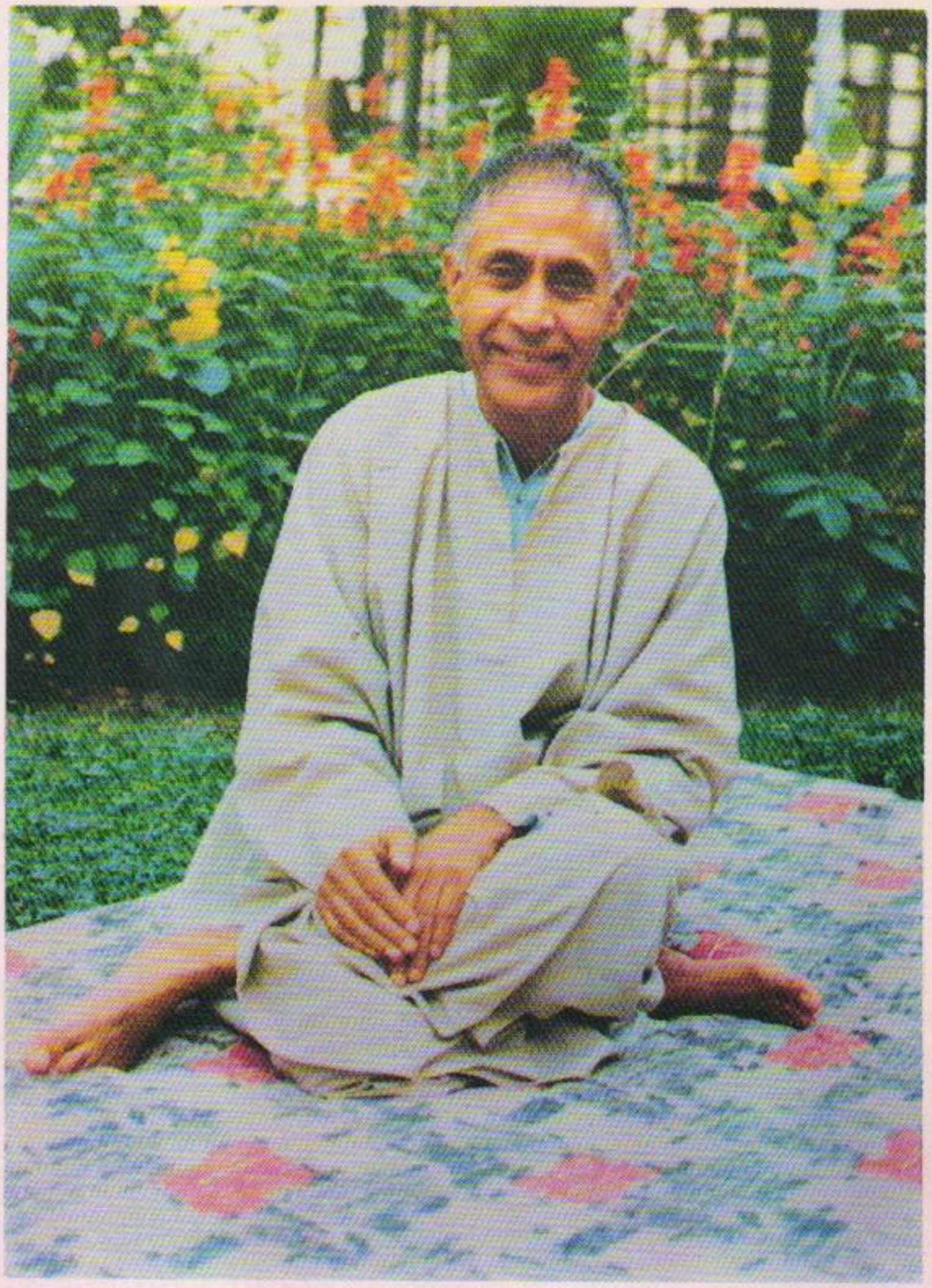

आविर्भावदिवस
9-5-1907

महासमाधिदिवस
27-9-1991

चन्द्र (Candra - the moon) known as incoming breath, सूर्य (Sūrya - the sun) known as outgoing breath, spontaneously enter in the pathway of the central channel (Suṣumnā) and rush down to मूलाधारचक्र (mūlādhāra cakra) Then as kuṇḍalinī it rises from the mūlādhāra cakra to सहस्त्रारचक्र (Sahasrāra Cakra) passing through the subtle opening of ब्रह्मरन्ध्र (brahmarandhra) There is a subtle opening at brahmarandhra point, through this the kuṇḍalinī departs from the entanglements of this body and enters that infinite expanse of God-Consciousness where प्रलीनशशिभास्करे breathing in and breathing out are not found existing anywhere. In this state also if perfect attentiveness is not maintained by those yogis, then सौषुसपदवन्मूढः (Souṣuptapadavanmūḍaḥ) they will again get drowziness and they are lost, because of diverting consciousness from that vibrating centre for a moment. But we will suddenly come out of that state and fall in the void state called pralayākala. At that point we will not yet be in the diverse cycle of the world filled with thoughts we will be in शून्य voidness. After falling into the void state we will open our eyes and again we are as good as ordinary persons. मूढः (mūḍaḥ) means that he is just duffer there. This whole universe is filled with consciousness but everybody has lost that consciousness. That is the cause of our being tossed in this cycle of Māyā, torture and repeated births and deaths, disease etc. प्रबुद्धः स्यात् अनावृतः (Prabuddhaḥ syātanāvrtaḥ) but that yogi who is प्रबुद्ध (Prabuddha) attentive whole heartedly i.e. who can not loose his consciousness even in choloroform, that yogi is great.

इति श्रीवसुगुप्तपादप्रतिपादितनयेन

(iti śrīvasuguptapāda pratipāditanayena)

This is the statement of vasugupta who has explained this in his spandakārikās. यदा शैवयोगी (Yadā Śaivayogī) when this Śaivayogi, क्षणमप्यवधान शैथिल्यमसहमानः (Kṣaṇamapyavdhāna śaithilyamasahamānaḥ) does not allow absence of awareness even for one moment to take place, सततमेव शिवात्मभावमनुसन्दधानः समावेश दशायामुन्मुखो भवति (Satatameva Śivātmabhāvamanusandadhānaḥ Samāveśadaśāyāmunmukho bhavati) and is always one pointedly attentive established in Śivabhāva and directs his mind towards samāveśadaśā.

तदास्य स्वात्मानुसन्धिबलादेवोभौ प्राणापानौ सौषुम्ने मार्गे लयं गच्छतः

(tadāsya svātmānusandhi balādevobhou prāṇāpānou souṣumne mārge layam gacchataḥ)

Then by the power of his one pointedness both breaths (breathing in and breathing out) enter in the central vein automatically.

तदनन्तरमस्य प्राणशक्तिः मूलाधारपदवीमाश्रयते।

(tadanantaramasya prāṇa śaktiḥ mūlādhārapadavīmāśrayate)

And next moment to that he experiences the state of Prāṇakuṇḍalinī at the site of मूलाधार।

तस्मान्मूलधारान्मध्योर्ध्व मार्गेण प्रोच्छलन्त्यां विकस्वरायां प्राणशक्तौ योगी प्राणकुण्डलिन्यवस्थामनुभवति।

(tasmānmūladhārānmadhyodhrva mārgeṇa procchalantyām vikasvarāyām prāṇaśaktou yogi Prāṇakuṇḍalinyavasthāmanubhavati)

From that mūlādhāra cakra at the beginning of its rise towards सहस्रार चक्र it rises in that Prāṇaśaktiḥ which is विकस्वरायां (Vikasvarāyām) all round bloomed and yogi experiences the state of Prāṇakuṇḍalinī.

अत्र प्राणकुण्डलिनी समावेश दशायां योगिनां द्वे गते भवतः।

(Atraprāṇakuṇḍalinī samāveśa daśāyām yoginām dave gate bhavataḥ)

In this state of Prāṇa kuṇḍalinī yogis experience two way traffic. तत्राद्यायथा (Tatrādyā yathā) First way for yogis is as under—

केषाञ्चिद्यथा प्राणापानौ मध्यमार्गे लयं गच्छतस्तदा प्रथमं तावदधोमुखौ सन्तौ लम्बिकास्थानं भित्त्वाङ्गुलि पिहित कर्णघोषवद् ध्वनन्तौ मूलाधारचक्रं वेधयतः, तदास्य योगिनो मूलाधारचक्रमुक्तप्रकारेणैव सशब्द पूर्णविगेन परिवर्तते इति योगी प्राथम्येनानुभवति।

(Keṣāñcidyathā prāṇāpānou madhyamārge layam gacchatastadā prathamam tāvadadhomukhou santou lambikāsthānam bhittvāñguli pihita karṇaghoṣavada dhvanantou mūlādhār cakram vedhayataḥ tadāṣya yogino mūlādhār cakramukta prakāreṇaiva saśabda pūrṇa vegena parivartate iti yogi prāthamyenānubhavati)

केषाञ्चिद् - For some yogis, यथा प्राणापानौ मध्यमार्गेलयं गच्छतः - when the

breath enters the central channel तदा प्रथमं तावदधोमुखौ सन्तौ - there the incoming breath and the outgoing breath initially descend (adhomukhou). लम्बिकास्थानं - In that अधोमुख State there is a state of Lambika. The state of लम्बिका cannot be established by any physical means because it is very subtle, there are four passages in लम्बिका. These two breaths, when they take the position of descending, arrive at the लम्बिका that is the passage from the right side. From left side there is another लम्बिका that is presently active in us while the लम्बिका of right side is blocked. When the two breaths (प्राणापान) collect and take the position of descending, the breath stops and a choking sensation is felt. Then the लम्बिका on the right side opens and the breath rushes down through that opening.

भित्त्वा - when the breath takes entry through the लम्बिका, अङ्गुलिपिहित कर्णघोषवत् ध्वनन्तौ - it produces a sound which is like that internal sound produced when you close the ears by pressing your fingers on them. It is a continuous sound like the sound of the ocean. When the two breaths gain entry into the सुषुम्ना through the लम्बिका and travel towards मूलाधारचक्र where they rest, a stipulated sound is produced. मूलाधारचक्रं वेधयत: - At that point the - mūlādhāracakra is penetrated. तदास्य योगिनो मूलाधार चक्रमुक्तप्रकारेणैव सशब्दं पूर्णवेगेन परिवर्तते इति योगी प्राथभ्येनानुभवति - When it is penetrated, the yogi experiences the wheel (cakra) beginning to move with great force and sound. It moves in a clockwise direction. This is the state experienced by yogis at the first moment this occurs.

to be continued.

The mystic worship does not need any definite place such as a temple to perform it, nor any invocation (Āvāhana etc.) It may be performed whereever and whenever possible.

T. A. III 210

PURPOSE OF GĪTĀ ACCORDING TO ŚAIVA VIEW

Svāmi Lakṣhman Joo Mahārāj

Kashmir Śaivism is basically an enquiry into the truth of human experience. It is a venture at discovering permanence in changefulness and universality in individuality. It, therefore, affirms the spirit of modern science. Studied in the right way, Kashmir Śaivism is bound to reveal its utility and charm to the modern mind. There is a purposeful uniqueness in this system of Indian spiritual thought. To give an instance here, I would point out how the great Śaiva teacher Abhinavagupta explains the purpose of the Gītā in his Gītārtha-saṁgraha (a commentary on Gītā).

While trying to solve the problem of life in the light of the Lord's song, Abhinavagupta says : What is the main purpose of our life here ? Why is our mind torn by conflicting duties and loyalities ? These are the very difficult questions he sets out to solve in his commentary. The freedom from all our miseries, he very boldly and emphatically declares, can neither be obtained through the renunciation of the world, nor by hatred towards this world but by feeling the presence of God everywhere, who is the inmost centre of each and every object.

There is an unceasing battle going on between Right (Pāṇḍū) and Wrong (Kurū) in one's own body (dharma-kṣetre) which is analogous to the war between Kauravas and Pāndavas. Each side strives to gain the upper hand. This famous conflict between the two sides shows how man should side with the Right ultimately to conquer the Wrong and thus become the instrument of God's good purpose on earth.

'Dharmakṣetre' signifies that the minds of people as they are by nature pure, get polluted by selfish interests and wicked thoughts leading them to the acts of vileness and wildness. Abhinavagupta explains 'māmakaḥ' as vile and impure thoughts coming in man's mind by his inherent ignorance and selfishness (māmakāḥ - avaidyā-puruṣocitā avidyāmayāḥ sañkalpāḥ) which lead him to use violence against his own fellow men, may even against his own kith and kin. Pāṇḍavāḥ is explained as pure or good and wise thoughts, humanistic outlook, which are the result of persuit of truth and knowledge, by man (Pāṇḍavāḥ - śuddha-vidyā puruṣocitā vidyātmānaḥ). Ultimately there is the victory of the right.

एक हिमालय मन्दराचल वह, स्व स्वरूप में दोनों निश्चल॥
एक शान्ति का उन्मत्त यौवन, अन्य धैर्य का सान्द्र तपोवन॥

KASHMIR ŚAIVISM

Svāmi Lakṣman Joo Mahārāj

In the beginning of Satyayuga Lord Śiva appeared in the form of, स्वच्छन्दनाथ (Svacchandanātha) with his five Mukhas (mouths), namely, ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव and अघोर. These Mukhas represent His five Energies, namely. Consciousness (चित्शक्तिः), Bliss (आनन्द शक्तिः), will (इच्छा शक्तिः), Knowledge (ज्ञान शक्तिः), and Action (क्रिया शक्तिः).

Lord Śiva wanted to enlighten the universe by manifesting the existence of the Tantras. He manifested these Tantras through His five mouths. Some of these Tantras have separately been revealed by Siva by each one of His Mouths while others have been recited by Him through two or more than two of His Mouths simultaneously. The Tantras that came into existence in this way are dualistic and mono-dualistic and are known as 'Siva and Rudra' Tantras respectively. The former are ten in number and the latter eighteen. This makes a total of 28 dualistic and monodualistic Tantras.

When these five Energies of Lord Siva unite with each other in such a way that each of these takes hold of the rest simultaneously, they give shape to 64 (sixtyfour) Bhairva Tantras which are purely Monistic (अद्वैत). The thought propounded in these Tantras is called the 'Trika' Philosophy or the Kashmir Śaivism.

The Monistic thought of Tantras was re-originated in the early period of Kaliyuga (कलियुग) by the sage Durvāsā who taught this philosophy to his will-born son, Tryambakanatha (त्र्यम्बकनाथ) and to one mind born daughter Ardhatryambakā. These two schools of thought are named Tryambaka and Ardha-Tryambaka respectively.

This Philosophy, commonly known as the Trika-system, is concerned with the three-fold existence—Śiva (The Universal Being), Śakti (The Universal Energy), and Nara (The individual), (नरशक्ति शिवात्मकं त्रिकम्).

Kashmir Śaivism endeavours to remove the innate ignorance that separates the individual (जीव) from the Universal (शिव). This system explains that the universe is just like its creater, absolutely real. In this

Philosophy the Universe is the manifestation of God Himself which is brought about by His Motivating power (स्वातंत्र्य शक्तिः). The existance of Siva has, therefore, to be understood in the very manifestation of the universe and not in its negation.

Kashmir Śaivism recognises no restriction of cast creed and colour and has no place for discrimination on this basis "नात्राधिकारिभेदः कोऽप्यस्ति". In fact, this philosophy is meant for all those who have desire and yearning to attain true knowledge and liberation from the bondage of repeated births and deaths.

This philosophy has been explained in four systems, namely Pratyabhijñā (प्रत्यभिज्ञा), Kula (कुल), Spanda (स्पंद), and Krama (क्रम).

Pratyabhijñā System—

The Pratyabhijñā system as systematically presented by Shree Somānanda-Nātha in the 8th century in his ŚIVADRISHTI ŚĀSTRA and is reflected in the Iśvara-Pratyabhijñā-Sutras by his disiple Utpaladevāchārya. PRATYABHIJÑĀ means recognising one's self once again. This represents an act by which one realises and re-unites with the original state (Universal consciousness). To explain, take the case of a bride who has heard all about her bride-groom, his qualities and beauty, and even has seen him many a time, but without knowing who he is. She does not recognise him unless he is shown to her and told that he is the man for whom she has been looking. Same is the case with an individual who has read and heard about his being nothing but Siva, the Universal. But unless, he is guided by the Guru to recognise himself as one with the Lord, who is Omniscient and Omnipresent, he is unable to do so.

"तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके,
कान्तो लोक समान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो,
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥' *(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ४-२)*

Kula system—

The Kula system was introduced by Śrīmacchandanātha in the begin-

ning of the 5th Century A.D. Later in the 9th Century it was reintroduced by Sumatinātha. In the line of masters from Sumatinātha, Somanātha was his disciple. Śambhunātha was the disciple of Somanātha and the great Abhinavagupta was the disciple of Śambhunātha. This highest thought teaches you how you can live in totality and how can you rise from the lowest degree to the highest degree and all the while experience the nature of your self on the same level and state. Śiva, which is realized in Prithvī tattva is the same level, the same reality of Śiva which is realized in Śiva tattva. Here there is complete realization in every act of the world. As is said :

एकैकत्रापि तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता।

(In any one element you will find all of the thirty six elements.) The essence of this system has been explained in the following verse :—

यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च।
तत्कुलं विद्धि सर्वज्ञ शिवशक्तिविवर्जितम्।।

Thus the chief doctrine of this system explains the state of Universal Being (परमशिव) from which the entire universe arises and into which it merges.

Spanda system

The Spanda system, positively speaking, is a double edged stir, throbbing outwardly and inwardly at one and the same moment. It is purely a spiritual stir and not any physical movement or mental restlessness. It can be explained as the extrovertive and introvertive divine volition of God. Had He not possessed such a throbbing nature He alone would have existed for ever, there would not have been any creation or any dissolution.

The teachings of the Spanda system are found embodied in the vijñāna Bhairava Tantra, the Svacchanda Tantra and in the 6th chapter of Tantrāloka.

This system was presented in Kashmir by Shree Vasugupta-Nātha in the 8th cnetury. Kṣhemrāja, the chief disciple of Shree Abhinava-

guptācārya, in his work, 'Śivasūtra-Vimarśini', relates that Vasugupta-Nātha invoked Śiva Himself to help him in the disputations with the Buddhists who believed in the negation of the Suprem Self. To him Śiva appeared in a dream and he was ordered and guided by Him to read Śiva-Sūtras engraved on a rock at the foot of Mahādeva Mountain which forms a beautiful back drop to this spot. Vasugupta Nātha studied and copied the Śiva-Sūtras and by arguments, based on the teachings of these, defeated the Buddhist thinkers in religious discussions.

Krama System—

The Krama System does not recognize either the way of the Pratyabhijñā system or of the Kula system. In the Krama system you have to rise step by step in succession. It is primarily concerned with space and time. In the Krama System it is in the end, not in its process, that you are beyond time and space.

The Krama system is attributed to Śaktopāya and to the twelve Kālīs. The twelve Kālīs are said to be the twelve movements of one cognition.

The rise of Prāṇa Kuṇḍalinī is also described in the krama system because in it you rise from one cakra to another cakra, from one state to another state. As this is a successive process, it is found in the krama system.

Although the krama system existed in the beginning of Kaliyuga having been introduced by the sage Durvāsā, it was reintroduced at the end of 7th century A.D. in Kashmir by the sage Erakanātha who was also known as Śivānandanātha.

For attaining the real Transcendental State of Self, Kashmir Śaivism lays down three means (उपाय) namely :– (आणवोपायः) Ānavopāya, (शाक्तोपायः) Śāktopāya, and (शाम्भवोपायः) Śāmbhavopāya.

1. Ānavopāya (आणवोपायः) is the means concerned with (अणु) the individual soul and the mode of practice by him is to get rid of ignorance (अज्ञान) of his nature. This is the lower form of effort which consists of five ways of :— (उच्चार) Uccāra, (करण) Karaṇa, (ध्यान) Dhyāna, (वर्ण) Varaṇopāsanā and (स्थान-कल्पना) Sthānakalpanā.

उच्चार करणध्यानंवर्णस्थानप्रकल्पनः।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते॥'

(i) (उच्चार) Uccāra : When a seeker develops awareness while breathing in and out by adjusting his consciousness with each and every breath.

(ii) (करण) Karaṇa-upāsanā, which is brought into practice through organs of the senses and actions and is conducted in the actual perception of ones' field of activities in daily life.

Although this practice is associated with (शाक्तोपायः) Śāktopāya, it is considered to be the chief practice in this upaya :

(iii) (ध्यान) Dhyāna, is a practice based on meditation. Here the aspirant concentrates on the Lord as being in the form of a Banana-lotus, the point of Concentration being in the centre of the lotus deep inside :—

'कदली सम्पुटाकारं सबाह्वाभ्यन्तरान्तरम्।
ईक्षते हृदयान्तस्थं तत्पुष्पमिव तत्त्ववित्।'

(iv) (वर्णोपासना) Varṇopāsanā, is conducted on (ध्वनि) which comes in hearing at the time of mediation. This Varṇopāsanā is chiefly a practice on Anāhat (अनाहत) and leads one to the realization of the True-nature.

(v) (स्थान कल्पना) Sthāna Kalpanā is a yogic practice in which one directs one's consciousness on some mediating centres in the body like the heart (हृदय), the pit of the throat (कण्ठकूप) or the space between two eyebrows (भ्रूमध्य). The practice envolves simultaneous reciting of mantras through mind only. It may be mentioned that all these practices of Ānavopāya are connected with the practice of cakrodaya (चक्रोदय) and particular points of concentration.

II. (शाक्तोपायः) Śāktopāya is a yogic practice of thought only. In this no recitation of mantras or breathing exercises is involved :—

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते।।

The Sādhaka (साधक), has to concentrate on any super thought like, 'सर्वमहम् = I am all, 'चिद्रूपोऽहम्' = I am all consciousness, आनन्दोऽहम् = I am Transcendental Bliss and so on. This thought must be adjusted in mind with such an awareness that no other thought comes in to break the chain of the awareness of the thought.

There is another practice on the level of Śāktopāya which prescribes fixing of one's mind at the time of looking at any two objects, on the points when ones eyes move from one object to another and establish the thought in the centre of these two :—

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ज्ञातमध्यं समाश्रयेत्।
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते।।

The Sādaka established in this awareness enters in the state of Transcendental Consciousness and passes from duality to unity. It may be borne in mind that practices of Śāktopāya are primarily attributed to the Krama system of Śaivism.

III. Śāmbhavopāya (शाम्भवोपायः) is a path in which the knowledge of the Ultimate Reality comes through the practice of emptying one's mind absolutely of all thoughts :—

'अकिंचिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
जायते य समावेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः।।'

To get well established in this course, three ways have been laid down, namely Viśvacitpratibimbatvam (विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वम्) Parāmarśodaya-krama (परामर्शोदयक्रमः), and Mantrādyabhinnarūpatvam (मन्त्राद्यभिन्नरूपत्वम्).

(i) (विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वम्) :— In this the seeker lives in the awareness that the whole Universe, consisting of (वर्णाध्वा, पदाध्वा, मंत्राध्वा, कलाध्वा, तत्त्वाध्वा, भुवनाध्वा) six (अध्वन्) paths, is reflected in the mirror of one's own consicousness (संविद्धर्पण); and by the uninterrupted flow of this awareness, a seeker enters in the Universal Con-

sciousness. He perceives the first flow of all the universal activities which result in Śāmbhava Samādhi.

(ii) (परामर्शोदय क्रमः) :— The second way is to understand that the whole field of sounds, words and sentences is nothing but (अनुत्तर) the Supreme Self. To explain break up sentences into words and let these words in turn be disintegrated into individual sounds where ultimately these merge into the Supreme Transcendental Sound-less sound. In this way, by the grace of the Master (सद्गुरु), one's mind is focussed towards the Śāmbhava State of Smādhi.

(iii) (मंत्राद्यभिन्नरूपत्वम्) :– The third way in the sphere of Śāmbhavopāya is the practice of (पूर्णाहन्ता), the Universal I-Consciousness. Here one has to develop awareness of I-Being in the world of all sounds by living in the first move of every action. By developing this awareness one enters in the Kingdom of Śāmbhava-State. These three ways of Śāmbhavopāya are associated with the Kula-system of Kashmir Śaivism.

It would not be out of place to mention that the first Ānavopāya is called Kriyopāya (क्रियोपायः), because it is experienced by such methods as reciting of mantras, regulation of breath, fixation of postures and mediating on some Divine Form. Śāktopāya is called Jñānopāya (ज्ञानोपाय), because this is adopting of methods in the cognitive field of means, such as you find in the following assertive awareness :— 'I am 'Siva', 'I am Bliss', 'I am Transcendental God Consciousness' etc;

The third upāya, Śāmbhavopāya, is called Icchopāya (इच्छोपाय), as it is attained through WILL only. In this upāya the seeker lives in the world of first move of all actions and all cognitions. It is meant only for those great souls who have developed their awareness of (चिच्छक्ति) Cit-Consciousness through the kindness of the Master (सद्गुरुः),

There is another higher method above Śāmbhavopāya called (अनुपायः) Anupāya.....effortless effort or methodless method and is with great reverence named as (आनन्दोपायः) Ānanadopāya. In this state one has to reside in the awareness of Transcendental Bliss.....

'ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्जितम्।
आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तरमिहोच्यते॥'

This is meant only for those blessed souls who have already united their individual Consciousness with the Universal Consciousness. Just as the poisonous effect of a venomous Cobra is transmitted to a person from a distance, in the same way a mere glance of the one who has attained the state of Anupāya (अनुपाय समाविष्टः) makes one enter the kingdom of Transcendental Bliss :—"भुजङ्गवद्गरल संक्रामः"; or just as with an intentional touch of the flame of a candle another candle burns with the same splendour, in the same way the intentional touch of a great yogi residing in the Anupāya State sends the seeker into the same state of Anupāya without making the least difference between the master and the disciple.

'तं ये पश्यन्ति तादूप्यक्रमेणामलसंविदः।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्येवास्यानुग्रहात्मता॥
दर्शनात्स्पर्शनाद्वापि विततात्भवसागरात्।
तारयिष्यन्ति वीरेन्द्राः कुलाचारप्रतिष्ठताः॥'

Hence the methodless method of this Upāya no doubt bears the imprint of Immortality. This (अनुपायः) Anupāya should be adjusted in the Pratyabhijñā system of Trika through—

'तीर्थे श्वपचगृहे वा
नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः
कैवल्यं याति हतशोकः॥'

The Realized soul may throw off his physical body in a sacred pure shrine or in the house of a very degraded and Low caste (श्वपचगृहे) or while leaving his body may remain in the state of unconsciousness, he is (जीवन्मुक्त) absolutely united in God-Consciousness. Hence these things do not effect him in the least :—

'हिमवति गङ्गाद्वारे, वाराणस्यां कुरौ प्रयागे वा।
वेश्मनि चाण्डालादेः, शिवतत्त्वविदां समं मरणम्।।'

Courtesy :
Śaśigauravāmṛtam
Dr. Śaśidhar Śarmā
Felicitation Series (Part-9)

In Kashmir Śaivism we begin one pointedness with the central way, the way of madhyamā vāk. Kashmir Śaivism explains that yoga in action means that when you are seated in a bus or when you are walking on the road, you must observe silence. Walk silently, sit in the bus silently. Do not talk to any body. Continue your practice of contemplating Lord Śiva as you were instructed by your Master without talking to any body. This is how you must begin. It is not possible at first to practice yoga while talking. In the beginning you have to start with silence. This yoga in action is tremondously powerful.

Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāja

MY ACQUAINTANCE WITH SVĀMĪ LAKṢMAṆA JOO THE ĪŚHVARA SVARŪPA

Prof. A. N. Dhar
Ex-Head of the Post-graduate Deptt. of English
Kashmir University, Srinagar, Kashmir

It was decades back that I heard of the great saint and Saiva scholar, Svāmī Lakṣman Joo from a friend and fellow-student Shri M. N. Tiku at the A. S. College, Srinagar, who resided at Fateh Kadal, in the neighbourhood of Navnāran, the Svāmī's father, well-known by that name as the owner of a fleet of house-boats (considered then a source of wealth in view of their attraction for the tourists). My friend was impressed by the comely visage of the saint and bewitched by the glow of his lotus-like eyes (as he described them to me). This picture impressed me, too, and I am sure it has remained ever embedded in the "deep" of my mind : I wonder why I did not feel prompted then to see in person this *remarkable* man, as I later rightly realized him to be.

In the years that followed, I heard occasionally the name of the Svāmī being dropped by one or the other devotee in the casual conversations I had with some elders on the subject of spirituality. In particular, it was my Kula Guru, Sri Vāsānand Zādu, who pointedly informed me that "Lakṣman Joo experienced *Samādh*i when only a tender boy", implying thereby that the Svāmī was a saint of a high order with a glorious spiritual background consisting in his past *sanskāras* as a yogi, who, as Bhagvān Śrī Kṛiṣṇa maintains in the sixth chapter of the *Gītā,* takes a fresh birth in a rich and noble family in order to accomplish further what he could not in his past birth.

After a gap of several years, when I was doing a professional course at Delhi in 1959 (a couple of years before I joined the teaching profession), one evening the thought of Svāmīji suddenly welled up in my mind and I experienced a wave of spiritual ecstasy (though I was not in the pose of meditation or saying prayers). Intuitively I felt that the Svāmī must be a special favourite of the Goddess Mahālakṣmī. This the divine status he

had attained, signified by the title Iśvara Svarūpa tagged justifiably to his holy name 'Lakṣmán Joo'.

Later, during my fairly long stay of 9 years at Jammu as a college teacher, I remember having attended *satsang* functions, a couple of times, arranged by some of the devotees of Svāmīji at the residence of the late Shri R. N. Wariku at Gandhinagar. The recitations from the Saiva *granths,* with which the religious service began, sung tunefully by the participants, pleased my ears and stirred my soul. I was inwardly drawn to the feet of the Master, the Lakṣman Joo become by then almost a living legend. How ironic that I never felt an urge to have a *darśan* of the saint : Perhaps, inspite of my spiritual inclination and my previous *saṅskārs* as an aspirant, I was engrossed in worldly affairs then and so would not find time to meet the scholar-saint and receive his blessings.

My appointment in the University of Kashmir in 1970 brought me, literally speaking, close to Svāmīji, judging by the physical proximity of the campus at Hazratbal to the Iswar Ashram situated at the foothill at Ishbar with the surroundings rich in natural beauty, wearing the spiritual looks of the saint they sheltered. What a pity that, as usual, I continued to fight shy of seeking the great Master. However, I was fortunate in cultivating contact with a beloved devotee of Svāmīji, Sri Uday Nath Tiku, who resided in his ancestral house at Agahamam, Habba Kadal (now living as a migrant at Madhopore, Panjab). I took delight in visiting him periodically; immediately, on entering his room, I would bow to the photographic picture of Svāmīji resting against the wall across. This picture, too, remained indelibly impressed on my mind. Tiku Sahib is not, by nature, very communicative in revealing the inner spiritual experiences, but he has always been kind in answering my queries regarding the spiritual height of his Master. Of course, he would suggest much more through his silent smiles than convey things directly in words. At long last, about a decade back, I made up my mind to see the scholar-saint. Tiku Sahib readily agreed to take me to the Iswar Ashram on a Sunday. My first, and the only, meeting with the Svāmī materialized, to my unbounded joy,one Sunday afternoon at the Ashram. Stepping forward, Tiku Saheb

presented me to the Iśvara Svarūpa, uttering just two words "my friend". There was an instantaneous response, a sweet and spontaneous glance at me, accompained by another divine gesture — Svāmīji put his right hand on my head and gently passed it around. The "sparsh" thrilled me.

On my retirement from the University service, I shifted to Jammu in early 1990 in view of the prevailing situation in the valley. My current interest in mystical literature demanded, among other things, some basic knowledge of the essentials of Kashmir Śaivism. Accordingly, I consulted some secondary materials and also read intensively Jai Dev's translation of *Śiva Sutras* (along with the elaborate commentary on the work) in which the author acknowledges Svāmīji's indispensable help and his signal contribution to the propagation of the doctrines of Śaivism. I could now imagine to myself the impact of the Saint-Scholar's brilliant exposition of *Śāstras* texts on the *listeners* at his Ashram (including visiting scholars from outside the valley and from abroad). My awareness of the discipline and hard labour that advanced scholarship demands enabled me to imagine what a colossus the Svāmī must be as a Śaiva scholar. It gradually dawned on me that we had a great personality around, a *lighthouse* in a sea of uncertainty and doubt—the impediments that imperil the spiritual seeker's progress at every step, which the presence of a true saint amidst us helps us overcome with ease.

At this crucial point, it was my good luck to come across, by chance, Sri Jankinath Kaul 'Kamal' a Sanskrit scholar of repute, at Sarwal Chowk, Jammu, one evening. I had met him earlier once at Sri Udaya Nath Tiku's residence when all was peaceful in the valley. He had now come to Jammu as a migrant while his spiritual teacher, the Iśvara Svarūpa, was firmly stationed in his Ashram at Srinagar. Sri Kaul accepted my request to take me as his pupil and teach me *Śivastotravalī* of Utpal Dev— the Sanskrit text I had made up my mind to study systematically despite my having only a smattering of basic sanskrit (picked up at the middle school standard). This contact provided me many opportunities to hear first-hand accounts of Svāmī Lakṣman Joo's wide scholarship and learning, and of his spiritual greatness (from one of the most knowledgeable and closest

of his associates).

The valley of Kashmir has given birth to many a saint and seer in the past. From among them the one name that comes foremost to our minds is the great Abhinava Gupta who established a school of his own centuries back and illumined the minds of hundreds of disciples. The spiritual-cum-academic centre at Ishbar, in the shape of the Ashram founded by the beloved Svāmīji, has always struck me from a distance as a potential centre of learning and culture, the very seat of Śri Vidyā. How sad that the Iśvara Svarūpa attained *Mahāsamādhi* at a time when we needed him most. The torch of spiritual knowledge lit by him must continue to show us the way through the dark valley of doubt and despair into the valley of blessedness. This casts a big responsibility on the shoulders of his followers and admirers—the task of building on the foundation of what has already been achieved by the Ashram, in terms of research and publications, in the field of Kashmir Śaivism. Had the State Government and the Central Government provided encouragement and financial support to this budding academic-cum-cultural centre, it would by now have grown into a full-fledged Institute of Advanced Studies in the field of Kashmir Śaivism. The growth of this Institute must have been Svāmīji's dream and all of us must strive to see it fulfilled.

Before I conclude this brief account of my "acquaintance" with Svāmī Lakṣman Joo, I would like to convey to the readers, in all humility, that the Saint-Scholar's presence was felt by me twice in the recent past—once when he was back in Srinagar from his visit to the US and later within a week of his attaining *Mahāsamādhi*. As the year 1992 drew to close, I encountered the great saint in a vivid dream. Immediately on waking up, I rendered the experience into a poem in Kashmiri. Here is my English rendering of what I composed in Kashmiri :

Realizing the significance
Of the Bhagavata Svarūpa
I'll sing of a new love-relationship
I've entered into,
This Thursday (the day sacred to the Guru);

The Deity incarnated Himself
In my home;
He showers grace on me
Through many a beautiful form:
Let's all move to Ishabar,
Dear Lala Saib beckons us there;
He has been waiting long
With fondest love for us;
The Iśvara Svarūpa occupies his throne there,
Turning the leaves of big volumes
In the pose of meditation
On the doctrines of the Śaiva Cult.

He is the Sun shining as ever
On the *Rishibhūmi;*
The Lakṣman we adore
Roams the land through,
Sitting in the Ashram
And strolling around;
He cheers the devotees up;
Seeing his garden in bloom;
He hails me as a dear son,
Promising me fulfilment,
In all respects

Visible in front of me,
The Iśvara Svarūpa,
In his resplendence,
Pours out for me
A stream of holy verses
From his *Kamal-mukh;*
Udaya has descended on my luck
As a benovolent friend;
My past *punyas*
Have brought me

Abiding bliss
Of Self-knowledge;

My own distractions
Had kept me away
From the Iśvara Svarūpa I adored;
I was fully aware
Of his great undertakings
And of his spiritual stature;
At long last I met him,
When he blessed me,
Placing his hand divine
On my head;
Though it is not from him
That I got the Guru's word,
The divine touch of his hand
Did me immense good;
This night I saw Lal Saib
In a pure dream;
My heart blossomed
As he showered
His nectarine words on me;
I burst into a stream of tear-drops,
Precious as pearls,
Lamenting why I hadn't
Attained Him before.

In sum, I should like to convey to all my breathren that Kashmir has been extremely fortunate in having given birth to a son like Lala Saib, who, as the Iśvara Svarūpa, accomplished the great task of reviving the esoteric knowledge contained in the invaluable *Śiva-sutras* and other sacred Trika texts, bringing out and expounding the hidden riches of these texts to his *śīśyas* and other visiting scholars. In all humility, once again, I confess to having "Smelt" his divinity from a distance, thanks to my

parents and to my teachers in general who fostered my belief in the Divine right from my early childhood. I hope this brief baper prompts the other devotees and admirers of Lala Saib, particularly those who were very close to him, to give comprehensive accounts of the life and spiritual greatness of the Master. The great task begun by the Iśvara Svarūpa must be pursued and carried forward (despite the present difficulties). A note of caution here; There must be a few doubting Thomases among us, which is only natural, and some detractors, too, who could be critical even of the Divine. To such persons I say, "Pray, search your hearts and find Love concealed therein". May the Iśvara Svarūpa bless us all. He blessed me with a glance and a touch of His hand.

There is a point twixt sleep and waking,
Where thou shall be alert without shaking
Enter into the new world
Where forms so hedious pass
They are passing-endure
Do not be taken by the dross
There the pulls and pushes about the throttle
All those shall thou tolerate
Close all ingress and egress
Yawning there may be
Shed tears crave-implore,
but thou will not prostrate
A "Thrill" passes and that
goes down to the bottom
It riseth may it bloom forth
That is bliss
Blessed being, Blessed being
O Greetings be to Thee

Swāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāja

I AM NOT THIS BODY
(Song of the Soul)

Shri Jankinath kaul `kamal'

The knowledge of self dawns upon one instantaneously when antaḥkaraṇa, the internal organs get completely purified. For this one has to undergo the necessary discipline for a period till one is endowed with the four qualifications required to mark spiritual progress. By `purified' is meant that the intellect along with the mind and the little `I' (i.e. ego) has not only been freed from the elements of passion (rajas) and darkness or ignorance (tamas) but is also filled with wisdom (Sattva).

The preliminary qualifications for adopting the spiritual path are described at length in the Śāstras. Here we make a mention of these in brief, with special reference to body, mind and soul (ego):-

1. Renunciation - This is unattachment to the pleasure and pain derived from the worldly objects and even to the joyful life in heaven which also is not permanent ultimately.
2. Discrimination - Right knowledge of the real and the unreal (worldliness and godliness).
3. Acquisition of the six cardinal virtues : viz -
   (a) Restraining outgoing propensities of the mind (Śama),
   (b) Restraining external sense-organs through which the mind attaches itself to sense objects (Dama),
   (c) Withdrawing the self (Uparati).
   (d) Forbearance (titikṣā).
   (e) Faith in the power of one's own self i.e. complete grasp of the ultimate (Śraddhā),
   (f) Self-settlement (Samādhāna).
4. Intense longing for God-liberation (Mumukṣatva).

Among these qualifications required for an aspirant to attain knowledge of the self, the first i.e. Renunciation or unattachment to body mind and ego is the most important. This has nothing to do with giving up possessions as is usually understood Svāmī Lakṣman Joo, in a lecture o

this topic of the Bhagavad Gītā said, "If you renounce this world and go for meditation to the cave in a dense forest you may think of what you have abandoned - a box, your bed-room, a towel or a transistor. This way you have actually not renounced." Renunciation is, therefore, defined as unattachment. One, even with no possession of things has not renounced them if one still identifies oneself with them mentally. Svāmīji further said, "unattachment is not indifference, nor is it the suppression of natural feelings of pleasure and pain." It is accepting life and living it well in all goodness with no attachment for sense-objects. If an aspirant develops in himself perfect unattachment (i.e. the three-fold unattachment to body, mind and ego) the other three qualifications will automatically be added to him. That will finally lead one to the true and lasting joy. This is what is known as liberation, eternal beatitude or Mokṣa.

The three-fold unattachment is quite comprehensively described by Aṣṭāvakra to his deserving disciple, king Janaka, in the following verses:-

1. Not-attachment to body :-

न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्त्ता न वा भवान्।
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर॥ *(Aṣṭāvaka Gitā XV-4)*

`You are not the body, nor is the body yours; you are not the doer nor the enjoyer. You are Consciousness itself, the eternal witness and free. Go about happily.'

There is but one existence which is absolute. The world is unreal for it has no absolute reality. The reality of the world is in the self, not in its outer form. Therefore it is futile to remain attached to the body or the wordly possessions. Etymologically, Śarīra is derived from Sr-decay or destroy शीर्यते इति शरीरम् - Śarīra (body) is that which decays or gets destroyed'. In the Svacchanda Tantra (VII-229) it is said that impurity is the body - कलङ्को देह उच्यते। Iśāvāsyopaniṣad terms it as `the body has its end in ashes - 'भस्मान्तं शरीरम्'। Kathopanisad (I-3-3) gives a clear picture about the body -

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवहि।'

`Know the soul as driver and the body as chariot.' Maitrayi put a burning question to her husband Yajñavalkya while the latter was re-

nouncing his home and all the possessions to seek solitude for realizing the supreme.

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं ना मृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४-५-४)

'What shall I do with what does not make me immortal?'

Yajñavalkya, believing her undoubtful purity said - स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति - `Not for the sake of husband is the husband loved. It is for the sake of self that the husband is loved.'

न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। - Not for the sake of wealth is wealth loved. It is for the sake of self that wealth is loved." and so on - Such is the case with body and all other things of the world. This is all evanescent. But a yogi has a different notion of the body and the things concerning it. For him it is a means to the end. It is a thing to be sacrificed :

शरीरं हविः *(Śiva Sūtra II-8)*

'(For the yogi) the body becomes an oblation (oftered in the fire of Supreme Consciousness)'.

दृश्यं शरीरम् *(Śiva-Sutra I-14)*

'This visible world is the body (of the yogi).' Thus, neither the body nor its possessions are the self. This body is not the real self.

2. Non-attachment to mind :-

रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन।
निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर।। *(Aṣṭāvakra Gītā-5)*

"Attachment and abhorance are attributes of the mind. The mind is never yours. You are intelligence itself, free from conflict and changeless. Go about happily."

One has not to identify oneself with the mind that involves love and

hate. If one does, one loses the awareness of one's true nature and falls prey to narrow and selfish attachment which is the impediment to Self-realization. Mind has no access to universal love that grows only out of true knowledge and deep devotion. Thus, the mind also is not the real self.

3. **Non-attachment to ego :-**

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
विज्ञाय निरहंकारो निर्ममस्त्वं सुखी भव॥ *(Aṣṭāvakra Gītā-6)*

``Realising the self in all and all in the Self, free from egoism and free from the sense of mind be happy."

When an aspirant realises the self he feels that he is the essence and reality of all things and that all things exist in him. The little ego vanishes. Thus, this little ego also is not the real self.

The three tenets of unattachment, discussed above, were put in simple assertive statements by Gurudev Sri Svāmī Lakṣman Joo, who displayed them in his glorious life on this earth. He often sang the lines in ecstasy along with his disciples and devotees for their spiritual upliftment. This is the song of the soul :-

I am not this body - This body is not mine;
So'ham Śivo'ham So'ham Śivo'ham
So'ham Śivo'ham So'ham Śivo'ham
I am not this mind - This mind is not mine;
So'ham Śivo'ham So'ham Śivo'ham
So'ham Śivo'ham So'ham Śivo'ham
I am not this ego - This ego is not mine;
So'ham Śivo'ham So'ham Śivo'ham
So'ham Śivo'ham So'ham Śivo'ham

TANTRICISM IN KASHMIR

Ācārya Dina Nath Shastri

Nature has lavishly endowed Kashmir with certain distinctive favours which hardly find a parallel in any alpine land of the world. Set in the womb of the Himalayas and gifted with beautiful and inspiring natural scenery, it emerged as a highly advanced seat of learning from very early times, taking its place along with the famous Universities of Takṣasila and Nalanda, Ramparts of high mountains and seclusion of the land helped her to preserve the life and conditions of early times which it is rather difficult to resusitate in regard to other such mountainous regions. To the poets like Bilhana and others it was 'Śārdādeśa', the land of goddesss Śārdā; and it was even believed that goddess Sarasvati actually lived here and hence the Śārdāpītha was also known as Srīpītha for conferring Sarvajña degrees. Srīcakra worship seems to have originated from this concept of the poets here regarding the characteristic learning of the land. It was only natural that the savants and ṛśīs should indulge in exercises of the highest order of metaphysical speculation.

The cultural heritage of Kashmir is, therefore, very rich and derives its inspiration and strength both from her natural environs and the rich literature and literary traditions alike. Usually, the literature of a country reflects the unique and most distinctive characteristic of her people and sheds light on the varied aspects of the numerous subjects developed in the language of that area. Thus with the growth of Tantra-śāstra that forms one of the important branch of the general śāstrās like Kāvya, Nātya, Vyākaraṇa and Vedānta, scholars have put forth their divergent opinions regarding the genesis and growth of this śāstra. All are, however, agreed on the point that the Vedas are the source of all these śāstras and that śabda-śāstra of Vyākarṇa (grammar) is their expression and basic source materials.

Along with the growth of a number of religious sects, numerous treatises were written to expound the basic tenets of a particular religion. The Tantra-śāstras also were composed to solve the knotty riddles and secret esoterieism of Dharma. There are many manuals of Tantras on the

diverse religious secrets still extant, though some are no doubt lost to us. The date of composition of these manuals cannot be determined with any certainity. The internal evidence, however, reveals that these are anterior to the treatises on Indian philosophy and posterior to the Vedas. Some would, however, even attribute a much earlier date to Tantras in comparison to the Vedas. It may safely be assumed that whatever was evolved in the form of religious literature seems to have been first developed in the form of Tantra-śāstra. A few scholars would go even to the extent of saying that in view of the complexity of the issues and problems discussed therin, these hold a place alongside the Vedas. This is so because the essence of the mantras of the Tantra-śāstra is not in any way inferior to those of the mantras or hymns found in the Vedas. Some of the religious principles of India are based upon the principles of Tantra-śāstra and in the Tāntric-base there occur glimpses of philosophic doctrines. Among the extensively ramified aspect of India's speculation the Tantras are characterised by a catholicity of outlook and are free from all personal, communal or race restrictions. They assign a very important place to women in religion and account for the growth of the Śākta cult. Justice Sir John Woodruffe (whose pen-name is Arthur Avalon) was the first to point out the philosophical and practical value of the Tantras and how the worship of Śhakti as World Mother gradually displaced Vedic ritualism.

Bengal, Assam, Gujrat and Kashmir were prominent centres of Tāntric cult and theories. Even in Buddhism Vajrayāna Śākta had its basis in Tantra śāstra. The Tantric cult was current in Tibet, and also in Kashmir. The Tantra is referred to in the works of acknowledged Vaiṣṇava śāstra; the Devī Bhāgavata in the ninth skanda speaks of it as a Vedānta and Śaivism got ascendaney over Buddhism. The experiences gained in the Śākta cult and Saivism find a clear exposition and manifestation in treatises on Tantras. Most of these are now lost. Nevertheless, the rituals bear a clear imprint of these Tāntric influences. This is amply justified by Nīlamata-purāṇa where certain rituals and sacrifices are prescribed for the people of the valley. Khitcari amāvasī etc. are the case, in point. In fact, certain calamities in the post-Kushana period were attributed to the giving up of these practices and accepting Buddhist philosophy. The adherents

of the Śākta and Saiva cult today are the direct descendants of the Tāntric group of followers. With the decline of Buddhism, the Śākta cult came into prominence and even the Vajrayāna branch of Buddhism found expression in Baudha-Tantra. It developed along with the Tāntric cult which had already taken deep roots in the soil. This is supported by a study of Śaivism itself, the rise of which is held by consensus to be the 6th century of the Christian era. The Baudha-Tantra (Vajrayāna branch of Buddhism) also flourished along with the Tāntric principles in Kashmir. A study of the Śaiva-śāstra reveals that the Tāntric literature that had developed much earlier in the 6th century was based upon the main principles of Iśvarādvayavāda. These principles have been explained at length in different forms inŚaiva śāstra and have been rightly characterised as Trika-śāstra. It took the name of Trika as it included the elements of Āgama. Pratyabhijñā & Spanda Sidhānta. Āgama Śāstra is included in the Tantra-śāstra which implies the description and analysis of a particular sectarian śāstra. Etymologically it has its roots in "tanu" with the termination : "tra" and gives the exposition of a particular religious cult or esoteric character of the rituals. Āgama-śāstra was in use much earlier than Tantra-śāstra and the noblest principles stated therin have found expression in a masculine form through the mouth of Lord Śiva, whereas the Tantra-śāstra confirms the expounded subject in the form of a male female dialogue, viz. the akhyānas dialogue between Śiva and Pārvatī. The Tantra śāstra which concerns itself with the subject through Parā-śaktī is called Śākta Tantra and the same Parā-śaktī is known as Tripurasundarī in Tantra-śāstras. All that was regulated in the world in three different manifestations was called Tripurā and the collective energy of Brahma. Viṣṇu and Maheś was known as Tripurā or Śri Tripurasundarī which is also variously known as Mahasarasvati, Mahālakṣmī and Mahākalī.

During the mediaeval period in Kashmir much stress was laid on Bhairava-yāga and Bhairava worship. These are closely related to Tantra śāstra. But the texts dealing with them are now no longer available. Ānandesvara, Mangalesvara, Hātkesvara, Purnarāja Bhairava, Turṣka-rāja Bhairava, Viśvaksena, Jayakasena and Mahākāla—the eight Bhairavas

and their worship was Tāntric in nature. Bhairavayāmal Tantra, Anandabhairava Tantra, Utśusma Bhairava and Hātkesvara Samhita etc. that are known to us through stray references only and could confirm the prevalence of the eight Bhairava cults are also not available. The Rudrayāmal grantha that deals with the source of hymns and thousands of names of the various gods and goddesses is available only in a fragmentary form. A fragmented but defective edition of this book has been published from Calcutta and a few incomplete Mss are preserved in the archives of Nepal, Varānasi and Kashmir. Like other Paurānic parvas (festivals), the Kashmiri Pandits had a number of Tāntric parvas too which are now not existing. These included Bhairavaparva, Matsyabali, Vāstuṣpatibali, Mārgasīrśabali etc. A study of the Rajatarangini reveals that other Tantras were also prevalent in Kashmir but the Pandits did not hold them in high esteem. The main subject of these was मारण (To kill), मोहन (To hypnotize), उच्चाटन (To apply witchcraft). The Śatakapāla Ākhyāna of Cakropala of Akahāra was Tāntric in character.

The Tāntric cult was in vogue in Kashmir before the spread of Buddhism, Saivism and Vaisnavism. Its literature is now not procurable. There is no gainsaying the fact that even before the prevelence of the Vedic religion, the Tantra cult was a dominant creed and this explains the existence of Tāntricism in the various activities of Vedic rituals. The sixth century saw the emergence of Śiva philosophy which had its roots in the contemporary Tāntric literature and Baudha Tantras. In course of time it led to the development of a refined and highly evolved Śaiva-advaitavāda. The main Tantras which fall under the group of Āgamas are : Svacchanda Tantra, Mālinīvijaya, Netra Tantra, Vāmakesvari, Rudrayāmal and Vijñāna Bhairava. The subject matter of these is closely related to the exposition of the Trika cult. Of these the Svacchanda Tantra, Malinītantra, Netra Tantra, Mrgendra Tantra, Vijñāna Bhairava, Vāmakesvara Tantra have been published by the Kashmir Research Deptt. Besides Tantrāloka based on Advaita Śaiva-śāstra has also been published by the same department in 12 volumes. A brief description of the published Tantrās is given as follows. The unpublished Tantra literature preserved in the Kashmir Archives is : (1) Munimatamanimala (Vāmadeva); (2) Subhagarcharatnam;

once published by the Kashmir Durbar but is now completely out of print. The original copy of it was available in the private library of Mahāraja Harisingh and the MSS Library of Jammu Raghunath Mandir. I too had purchased a copy of it for the Research Library, Srinagar.

Devi-Rahasya :

This is also a huge grantha of a kind of specific Tantra-śāstra. Along with it has been published Uddhārkosa, a garntha for mantrodhara, quite unique as a type. The first half includes 25 patalas (paragraphs) and has been composed in the form of adhyāyas (chapters) dealing mainly with the bījamantras of gods and goddesses, worship of the crematorium, madya suddhi (purification of wine) and madyapānavidhi, (drinking method) etc.. The other half known also as Rahasyayiya, contains 35 (adhyāyas) chapters. The Pañcāngas mentioned therein are : Javālāmukhī, Śarikā, Mahārajña, Bālā, Tripurā, Lakṣmī, Sarasvati, Tārā, Bhvanesvari, Mātangī, Bhedā and the bījamantras releated to these goddesses and six other mantras of other goddesses. These are : Bhadrakāli, Turī, Cchinamastā, Dakṣināmurtī, Śyāmā, Kālarātrī. All these goddesses are included in the pantheon of the Hindu goddesses. In the third section Varāhī, Vajrāyoginī, Kameṣvari, Gauri, Annapurṇa, Śāradā etc. are included along with basic mantras and bijamantras. The mantras of Ganeśa, Vatuka Kumara, Mrtyunjaya, Kārtaviryājuna, Sugriva, Hanumāna and those of navagrahas are also included. Similarly, the basic mantras of Varnamalā and the mantras of navagrahas as also those of Bhvānī, Bagulāmukhi, Indrākṣī, Khecari too find a place therein. The dhyāna-dhāranā of these goddesses and grahas are also included. It appears to be a large section of Rudrayāmala Tantra. Uddhārkosa is in the form of a dialogue between Dakṣināmurtī and his disciple Akṣayaya. It is a publication of the Kashmir Research Deptt. (1941).

Brhat Nīla Tantra :

It is so called because it supplies every information in connection with the worship of Nīla Sarasvati. The eleventh chapter of the Tantra describes at length how the Goddess of Wisdom became Nīla (blue).

The Tantra is written in the form of a dialogue in which Mahākālabhairava appears as the speaker and Mahākāli as the listener.

It contains twenty-four chapters. Contents of these are briefly mentioned in the first chapter. The Tantra is evidently later in composition than the Gandharva-Tantra to which it refers and the Durgāsaptaśatī.

In this Tantra the Devi requests Bhairava to reveal the Nīlatantra as promised at the time the Kālītantra was revealed. The Bhairava redeems the promise and declares that the Tantra which he is to reveal should be duly preserved and concealed, as that leads to many blessings. Firstly, he briefly mentions the important topics of the Tantra and then begins the description of Tārā in all her forms together with the way in which she is to be worshipped.

The mantra of Nīla Sarasvatī, consisting of five syllables, reads as ऊँ ह्रीं स्त्रीं तूं फट्, of this Vasiṣṭha is the sage, Vṛhatī the metre, Nīla Sarasvatī the deity and the object acquisition of poetic power. Practitioner of the mantra is advised to perform the bathing etc. in the right manner according to both forms, Vedic and Tantric.

A chapter describes the worship of the Nīla Sarasvatī. It is to be done in out-of-the-way places, such as deserts, cremation-grounds, jungles, hills and hillocks. Workship of the deities; Gaṇeśa, Kṣetrapāla, Yoginī and Vaṭuka with भां क्षां यां वां comes at the beginning. While entering the altar Brahma and Vāstupuruṣa receive their worship. Devi is to be mediated upon as occupying the seat of jewels at the foot of the desire-granting tree. Water required for worship is to be purified with the mantra of ऊँ वज्रोदके लूं फट् स्वाहा।

Gandharvatantra : It gives, with elaborate details, instructions in ritualistic worship purifications, mantras, yantras, mudrās, āsanas and the like. It also provides, in eleventh chapter, forms of mediations on Kuṇḍalinī and prescribes Prāṇāyāma as almost the panacea of all ills. This Tantra is extremely rich and predominately Śākta in nature and philosophically of Trika outlook.

Vijñāna Bhairava Tantra : This is commented on partly by Kṣemarāja and partly by Śivopādhyāya. This is a text of the Tantra Śāstra of Āgamic nature being a conversation between Śiva as Bhairava and Śakti as Bhairavī. The theme of the text is explained by Śiva himself. Main topic of the text is 112 yoga dhāranās; the forms of Dhyāna are elaborately

mentioned therein. It is based on the famous Rudrayāmala Tantra.

Uḍḍāmareśvara Tantra : This Tantra is a book of magical formulas and practices and also prescribes a number of medicinal drugs.

Vāmakeśvari Mata Vivaraṇa : This is Āgama Śāstra. It deals with philosophical thought as well as rituals, mainly the latter. It gives a clear explaination of Śakti as Tripura-Sundarī, whose worship, in various forms, it prescribes.

Mālinī Vijaya Tantra : This work belongs to Āgama Śāstra and according to Abhinavagupta is the mọst important Āgama treatise for Trika system of Śaiva philosophy. It is a conversation between Śiva and Śakti.

Mālinī Vijaya Vārtikam : This is a running commentary of above work by Abhinavagupta and is written in simple Sanskrit in the Anuṣṭup meter.

Netra Tantra : (with a commentary of Kṣemarāja) is published in two volumes in a dialogue form between Śiva and Śakti. The conversation introduces a question from Śakti that all the eyes are full of water, how is that from thine eye, Thou Divinelord, there sprang forth the great fire which burnt everything ? The whole book is mainly as answer to this question.

Mṛgendra Tantra : It deals with an Āgamic nature of Tantra. There is a dialogue between sage Ananta and his disciple. It is depicting plurastic thought of Śaiva School.

It is Svātantya, the absolutely independent will of God which is the mirror and which is the cause of this effect which is the reflection. Thus in God Consciousness only the reflection exists and not anything that is separate and reflected.

Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāja

भक्त शिष्य दोनों कर जोड़े, ध्यान मग्न बैठे हैं गुरुवर।
पास शारिका बनी याचिका कैसा अद्‌भुत दृश्य कृपाकर॥

SWĀMĪ LAKṢMAṆA JOO RAINA

(Recollections of a foreign devotee)

Kashmir Śaivism is a magnificant system of spirituality which, since its inception, has emphasized not only the understanding of its concepts but the direct realization of its truth. According to its devotees, truth cannot be grasped by mere intellect; it can only be apprehended through direct experience. Because Kashmir Śaivism regards itself as a practical system of spiritual realization, it has come to place great emphasis on its oral tradition preserving and passing on the understanding that is indispensable as a guide to the direct, living apprehension of its trutth.

The oral tradition of Kashmir Śaivism has been preserved and strengthened in the person of Svāmī Lakṣmaṇa Joo Raina. Svāmījī had a profound understanding of this great spiritual sway; He was an extraordinary man whose whole life was dedicated to his beloved Śaivism. Svāmījī fully imbibed the teachings and practices of Kashmir Śaivism and was looked upon as the embodiment of kindness, compassion and generosity. His life was, marked by a continual remembrance and outpouring of love for Lord Śiva, whom He worshipped in the form of Amriteśvara Bhairava, the lord of the nectar of liberation.

The home of Kashmir Śaivism is the Valley of Kashmir (present Indian State of Jammu and Kashmir). Śaivism had flourished in the Kashmir Valley for several centuries. Kashmir Śaivism is known as the pure Trika-system. The word 'Trika' means "three-fold signs of man and his world". In the thought of Trika there are three energies `Parā' (supreme); 'apara' (lowest); and 'parāparā' (combination of the lowest and the highest). These three primary energies represent the three-fold activities of the world. In the thought of the Trika, therefore, it is admitted that this whole universe and every action in it, whether spiritual, physical or worldly, is existing in these three energies.

The Trika Philosopy is meant for any human being without any restriction of caste, creed or colour. Its purpose is to enable an aspirant to rise from individuality to universality. The Trika System of Kashmir School of Thought is comprised of four systems:

1. Pratyabhijñā;
2. Kula;
3. Krama; and
4. Spanda.

These four systems which form the one thought of the Trika Philosophy, all accept, and are based on, the same scriptures. These scriptures, which in Śaivism are called 'the Āgamas' are 92 `āgamas' of Śaivism the monistic Bhairava Śāstras, which are supreme `parā' are 64 in number, the monodualistic Rudra-Śāstras `Prapara' which are medium are 18 in number; and the dualistic Śiva Śāstras, which are inferior `apara' are 10 in number.

The nondual Śaiva teaching was passed down through illustrious preceptors such as Somānanda, his pupil Utpaladeva and Utpaladeva's pupil Lakṣmaṇagupta, who was one of great Śaivite Master Abhinavagupta's preceptors. Also worthy of mention are Kṣemarāja disciple of Abhinavagupta and Jayaratha, who commented on this Great Śaivite Master's masterpiece `THE TANTRĀLOKA'. In the nineteenth century there were two important Śaiva Masters in the Valley of Kashmir. Svāmī Manakak Ji Maharaj regarded by Kashmiris as an exalted saint, was like many preceptors of the Śaiva lineage a householder. His disciple was Svāmī Rām Ji Māharāj. Like his Master, Svāmī Rām Ji Māharāj was also held in utmost esteem. He was in the habit of remaining in yogic trance `samādhi' for four hours at a time. Among his devotees were Pandit Nārāyan Dass Raina, a devout Śaiva Householder and a successful businessman. Svāmī Lakṣmaṇa Joo Raina was Pandit Nārāyan Dass's son. Before Svāmī Rām Ji Maharaj's attainment of Mahāsamādhi, the Master entrusted this seven-year old Lakṣman to the tutelage of his chief-disciple, Svāmī Mahtab Kak Ji Mahārāj. The little boy showed signs of his spiritual tendencies at an early age.

At the age of seven Svāmī Lakṣmaṇa Joo Raina would spontaneously enter into state of deep meditation. When he was thirteen years old, his parents began to talk to him about getting married. (In those days children *were married at a very young age). Svāmī Jī told them that he had no desire*

to ever get married and that his desire was to dedicate his life to the realization of God. Even as a little boy he used to tell his elder brothers and sisters to close eyes and concentrate inside to observe the Supreme reality - Lord Śiva. To escape the marriage pressures he decided to leave home. He went to the thick forests in North Kashmir known as Sadhu Ganga. The panicy parents found a note which was left behind by this young Śaivite in which the parents wre advised not to worry as he was leaving in search of Ultimate Truth. The father, who somehow reached his boy, pursuaded him to return home. After great pursuation, though he agreed to return but set down the condition that his parents would give up the idea of getting him married and he be given a place of his own to live. The father, who was owner of all the house-boats of Kashmir at that time was very rich, keeping his promise, purchased a beautiful plot of land on the mountain side near Nishat Bagh - a sixteenth century Mughal garden overlooking world famous Dal lake. There he built a house where Svāmī Jī devoted himself fully to spirituality. This complex is now known as "Ishwar Ashram" and is presently managed by a Trust founded by Svāmī jī himself before his attainment of Nirvāṇa.

In 1933, at the age of 26, Svāmīji published along with Abhinavagupta's commentary, the Kashmiri recension of the Bhagavadgītā; Besides Utpaladeva's Śivastotrāvali; Sāmbapañcāśikā and other known Śaiva texts too were translated in Hindi.

When he was about 30, he heard about Sri Ramana Maharshi. He, unmindful about the long long distance travelled from Kashmir to Madras and from there to Tiruvannamalai. When he entered the hall where Sri Bhagvān was seated, he prostrated before him. Sri Bhagavān made him to sit in front of him and looked at him graciously. Svāmī Lakṣmaṇa Joo immediately entered into the state of samādhī'.

Svāmījī's reputation spread all over the country and spiritual leaders and scholars journeyed from all corners of the world of receive his blessings. Svāmī Muktānanda Paramahamsa and Maharishi Mahesh Yogi were making a point of visiting and paying their respects to this Śaiva master during their visits to Kashmir. Scholars travelled to Kashmir to enlighten themselves in the field of spirituality and to know about the

secrets of this great philosophy - Kashmir Śaivism. Like his Masters, Svāmījī had a prodigious memory and could quote verse after verse by heart from a wide range of sources in support of his points he was making in conversations or lectures. He taught a number of scholars the tenets of his so far hidden treasure. Among prominent western scholars who studied Kashmir Śaivism with Svāmī Lakṣmaṇa Joo were the late Lilian Silburn, Andre Padoux (both of whom had distinguished careers as scholars of Tantrism at the Centre National de la Recherche Scientifique, Paris); Alexis Sanderson (Spaulding Professor of Eastern Religious and Ethics at Oxford University); Mark S.G. Dyczkowski (an important younger scholar of Śaivism associated with Sampūrnānananda Sanskrit University, Benaras): John Hughes and his wife Denise (The couple was fortunate to have a son Viresh Hughes, who was born in Kashmir and was initiated by Svāmījī into Kashmir Śaivism); Prof. Harvey P. Alper; J.G. Arapura; George van den Barselaar; Jonathan Abraham; Bettina Baumer; Gerald J. Larson; K. Sivaraman. Within the country Pandit Rāmeśavar Jhā developed a profound devotion to Svāmījī, to whose spiritual power he attributed certain spiritual realizations that he enjoyed. All disciples and devotees of Svāmījī recite 'Gurustuti' composed by this learned scholar in Sanskrit); Thakur Jai Dev Singh (his indebtedness to Svāmī Lakṣmaṇa Joo Raina can be gauged by going through his works, translation of Śaiva scriptures - 'Spandakārikā' 'Pratyabhījñāhṛdayam' Vijñāna-bhairava' and `Parātriśikāvivaraṇa'. In introductions to these works the Thakur has said "Svāmī Lakṣmaṇa Joo who unsealed my eyes" - "the doyen of Śaivāgama" - with profound respect to Svāmī Lakṣmaṇa Joo, to whom I owe whatever little I know of Pratyabhijñā Philosophy".

Among his disciples belonging to Valley of Kashmir Sushri Sharika Devi was his Chief disciple. She left her physical body exactly seven months prior to her Masters' attainment of Mahāsamādhi. Late Prof Jia Lal Kaul composed Hymns in Sanskrit in praise of Master. Dr. Balji Nath Pandit, known for his studies of Kashmir Śaivism was a time devotee of Svāmījī. Prof. Nila Kanth Gurto and Prof. Makhan Lal Kukiloo, scholars of Sankrit & Kashmir Saivism, were favourites of Svāmī Jī Mahārāj. There are thousands others who have taken to the path of spirituality and are practising Kashmir Śaivism.

Throughout his life Svāmījī remained a staunch supporter of 'non-violance'. He opposed meat eating vehemently. He initiated his disciples with the pre-condition of giving up meat eating totally. At present admission of devotees and/or persons desirous of seeking admission in the Ishwar Ashram Trust is restricted only to those who give up meat eating.

On September 27, 1991, at the age of eighty-four Svāmī Lakṣmaṇa Joo Raina attained `Mahāsamādhi' and left his physical body.

MALINI - Quarterly Magazine

Annual Subscription : Rs. 60.00

Price Per Copy : Rs. 15.00

Overseas Subscription : US$ 20.00

All correspondence & subscription must be sent to Administrative Office :

2-Mohinder Nagar
Canal Road
Jammu Tawi - 180002.

Attention Please

AVAILABLE AVAILABLE AVAILABLE

Cassettes of गुरुस्तुतिः *and* ***Śiva Bhajan*** *in Kashmiri*

Singer — Mrs. Naina Sapru Trisal

KUṆḌALINĪ YOGA
A Devotee's Explanation

Shri J. N. Koul Kamal

Kuṇḍalinī is the life power residing in Mūlādhāra Cakra of every living being. The cakra is located at the base of spinal column where the power lies dormant between the origin of the reproductory organ and the anus in a special kind of air called Kadarpa Vāyu. It is not Prāṇa Vāyu. It is Mūlādhāra fire that becomes active in three-and-a-half coils as light-and-energy-giver. It is just below the 'KANDA' and the junction where Īḍā, Piṅgalā and Suṣumṇā emanate.

According to Patañjali there are channels called nāḍīs and centres called cakras in human body. If these are tapped with proper care and discipline, the hidden energy in the body gets released with divine will This enables the soul to acquire super-natural powers. The embodied consciousness merges with constant practice and ultimately gets transformed into the Universal Consciousness. The wise call this the state o Mokṣa or liberation.

Arthur Avalon says that "Kuṇḍalinī is the static Śakti. It is th individual bodily representative of the great cosmic power (Śakti), whic creates and sustains the universe." *(Garland of Letters)*. While describin the technique of Raja Yoga; Svami Vivekānanda said, "The centre whe all residual sensations are, as it were, stored up, is called Mūlādhāra cak and the coiled up energy of actions is Kuṇḍalinī-the coiled up". Its for is like a coiled serpent and a common man also can know about it as works ordinarily in all living beings.

Kuṇḍalinī is, therefore, called cit-śakti, the life-force or the power consciousness from which alone originate all currents of energy. The a of Tantra is to regulate and control these currents to make them fl through sublime channels by Tantra-yoga. Ego is the main obstruction the flow of this energy towards the right course that leads to bliss, beau peace and joy.

Kuṇḍalinī expresses itself through the path of yogic nervous syste It is already half-awake in every individual to maintain normal life in

body. The more it is awakened the more beauty, joy and peace it brings. It grants the state of self-realisation on being awakened properly and fully by a yogi who has developed extraordinary intelligence (Ṛtambharā Prajñā) and spiritual strength (Ādyātmika Śakti) in himself. Some time it awakes automatically and abruptly but may not bloom because of spiritual unawareness.

When, in a moment of grace, the Kuṇḍalinī Śakti gets awakened it finds access to the central Royal Path or Madhya Mārga through Suṣumṇā and rises straight piercing the six lotuses like the lightning to unite with Her Lord at the Sahasrāra. This is represented as Pārvatī marrying Śiva at the Kailāsa Parvata. Devotee-yogis then know Pārvatī as the awakened power of grace or internal power of the Preceptor - Gurudeva. This is termed 'Kuṇḍalinī Yoga'.

Kuṇḍalinī Śakti, according to Svāmī Lakṣmaṇa Joo, is the vital power particularly experienced in three states by advanced yogis. The first is the tranquil state and remains limited to Mūlādhāra only. It works in all created beings. When this power gets awakened with constant practice or uninterrupted feeling of perfectness of I-Consciousness, it is called Kuṇḍalinī born of peace or Adhaḥ Kuṇḍalinī. After this state when the Kuṇḍalinī gives a sudden and straight flash like the lightning, rising through the path of Suṣumnā to Brahmarandhra, it is called Ūrdhva Kuṇḍalinī.

The subtle form of Kuṇḍalinī was described by queen Cuḍālā to her husband Śikhidhvaja thus-"Recognise Kuṇḍalinī in yourself which is the very life of the mind which is also called 'Puryaṣṭaka', like the scent in the flower". (Yogavāsiṣṭha-Nirvāna Prakaraṇa). The Devi Bhāgavata explains the Kuṇḍalini as Sṛnghāṭākāra. Which is further explained in the `Yogini Hṛdaya' as the triangle form in which the three apexes are Icchā, Jñāna and Kriyā respectively. Svāmī Lakṣmaṇa Joo, however, gives lucid exposition of the Kuṇḍalinī working in three levels - (i) the physical level or Prāṇa Kuṇḍalinī, (ii) the mental level or Cit-Kuṇḍalinī and (iii) the spiritual level or Bodha-Kuṇḍalinī in his paper written in Sanskrit under the topic - Kuṇḍalinī Vijñāna-rahasyam.

अमृतसन्देश

प्रवक्ता - ईश्वरस्वरूप सद्गुरुमहाराज

आप सभी श्रोतागण इस बात से परिचित हैं ही कि हम सभी इस विश्व में उत्पन्न हुए हैं। क्या कभी आप ने इस बात पर विचार भी किया है कि हमारे जन्म लेने का वास्तविक प्रयोजन क्या है ? क्या हम इसीलिए उत्पन्न हुए हैं कि हम जन्म लें, बालकभाव को प्राप्त करें, अपने शरीर को सुदृढ़ बनायें, स्कूल व कॉलिज में जाकर विद्यार्जन करें, नौकरी करें, तदनन्तर विवाह करें, सभी भोगों को भोगें, सन्तानोत्पत्ति करें और उसके बाद समय आने पर ऐसे मरें जैसे एक कुत्ता मरता है।

वास्तव में यह हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं है। इस जन्म-मरण की परिधि से छूटना ही हमारे जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इस जन्म-मरण की शृंखला से छूटने के लिए कश्मीर शैव-दर्शन ने तीन मुख्य उपायों का निर्देश किया है। पहिला आणवोपाय है, दूसरा शाक्तोपाय है और तीसरा शांभवोपाय है। इस मंच पर मैं प्रथम आणवोपाय का ही निर्णय करूंगा क्योंकि इस का संबन्ध अणु (जीव) के साथ ही है। साधारण कोटि के बुद्धिकोष रखने वाले साधक के लिए आणवोपाय का अभ्यास कहा गया है। इस प्रमेय जगत् में सब से मुख्य, सूक्ष्म तथा पवित्र प्रमेय, प्राण ही माने जाते हैं। श्वास यानी बाहर निकलने की सांस उश्वास-अन्दर जाने वाली सांस पर अहर्निश, एकाग्रता-पूर्वक मन्त्र-सहित अभ्यास करने से आणवोपाय के साधक को प्राण-कुण्डलिनी का साक्षात्कार हो जाता है। इस का अनुभव शैव-योगियों ने, अन्य मतावलम्बी योगी, जिन का विकास योगमार्ग में पूर्णरूपेण नहीं हुआ है, उन से एकदम भिन्न रूप में अनुभव किया है। जहां उन्होंने इस कुंडलिनी को सर्पाकार के रूप में अनुभव किया है वहां शैव-योगियों ने इस का अनुभव विश्व-व्यापक चेतना के रूप में किया है। आणवोपाय की सिद्धि होने पर, साधक का प्राण-वायु एकदम रुक स्थगित सा हो जाता है। ऐसा होते ही ये प्राण बड़े वेग से सुषुम्णाधाम में लय होने हैं। इस के पश्चात् इस शैवी-योगी की कुंडलिनी-शक्ति जो सर्पाकार न होकर के संवित्-चेतनता से पूर्ण होती है, मूलाधार के चक्र को स्पर्श करती है। स्पर्श करते मूलाधार का चक्र अति वेग-पूर्ण रूप में घूमने लगता है। इसके बाद, दूसरे चक्र का कुंडलिनी-शक्ति करती है जो नाभि के स्थान में अवस्थित है। इस चक्र के घूमने के साथ प्रथम-चक्र भी घूमता रहता है। फिर तीसरा चक्र जो हृदय में होता है, उस का

"थियोसोफिकल सोसायटी" के मंच पर ई० सन् १९७७ में दिये गये भाषण के कुछ अंश

श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज

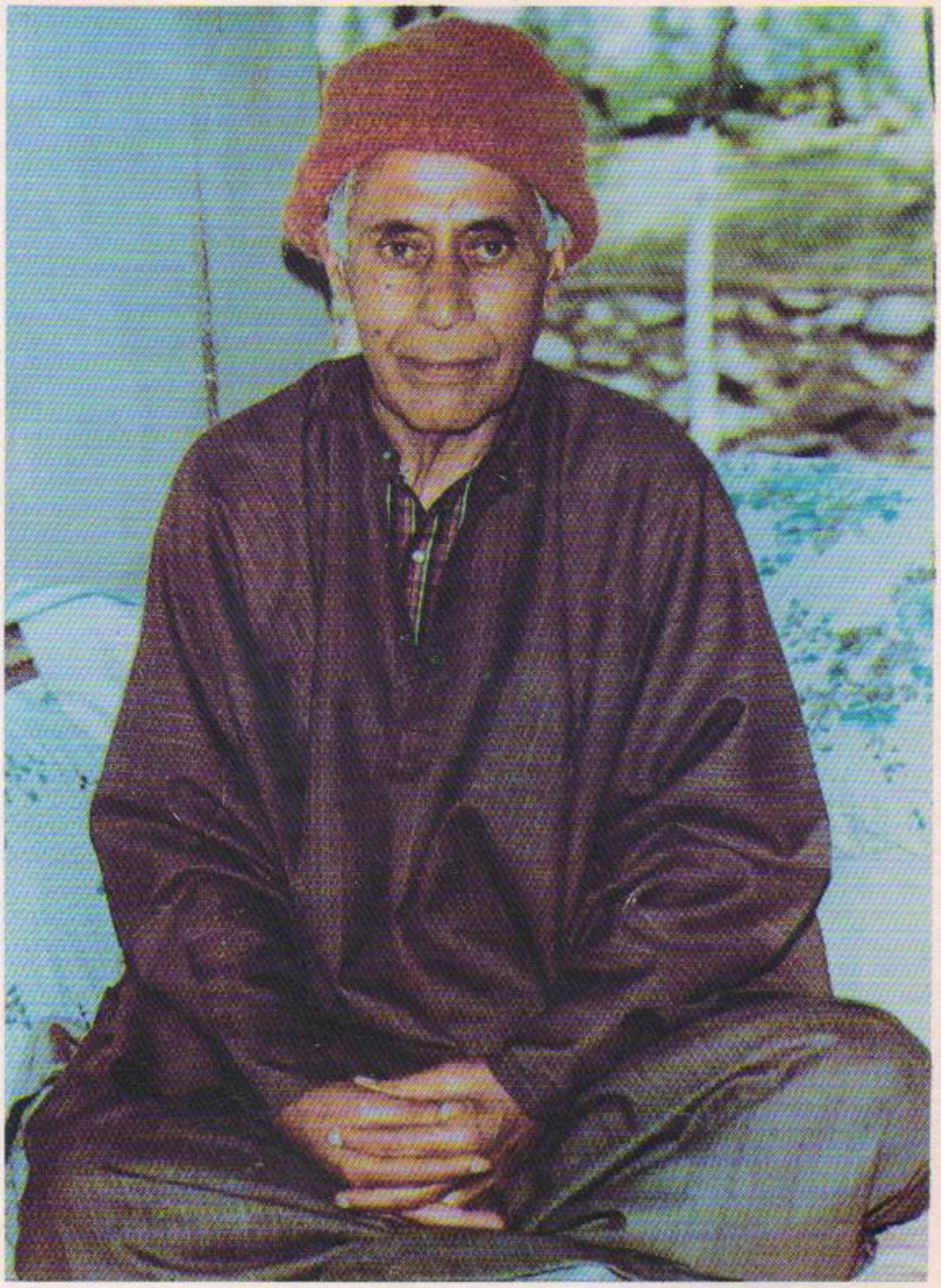

आविर्भावदिवस
9-5-1907

महासमाधिदिवस
27-9-1991

यह कुंडलिनी-शक्ति करती है। स्पर्श करते ही तीनों चक्र घूमने लगते हैं। तदनन्तर चौथा चक्र जो कंठ में ठहरा है, उस का स्पर्श यह शक्ति करती है। यह चक्र भी, अन्य तीन चक्रों के साथ वेग-पूर्ण रूप से घूमने लगता है। इसी भांति आज्ञा-चक्र जो दो बौंहों के मध्य में स्थित है, इस का स्पर्श कुंडलिनी शक्ति को होता है तो, यह चक्र भी अन्य चार चक्रों सहित घूमता है। अन्त में सहस्रार-चक्र में जाकर इन सभी चक्रों का घूमना बंद हो जाता है। साधक को उस समय ऐसा अनुभव होता है मानों किसी यन्त्रालय की मशीनें शब्द करती हुई वेग-पूर्वक चलती हों। इन चक्रों के चलने की अलौकिक ध्वनियों को भी साधक सुनता है। अन्त में जाकर यह शैवी-योगी परमेश्वर के शक्ति-पात से आघ्रात होकर आजीवन इसी परम-सुख को पाने की टोह में लग जाता है। अन्य मतावलम्बियों ने जहां इन चक्रों का अनुभव पद्माकार रूप में किया है वहां शैवी-साधकों ने इन का अनुभव चक्र के रूप में ही किया है। ये चक्र अराओं से युक्त अनुभव में आये हैं। योगी इन षट्चक्रों का अतिक्रमण करने से अलौकिक पारमार्थिक सिद्धियों को प्राप्त करता है।

यद्यपि हमें इतने स्पष्ट रूप में इस अनुभव का वर्णन सर्व-साधारण जनता के सम्मुख नहीं करना चाहिये था किंतु जनता ईश्वरीय-संपत्ति से विमुख होकर, ऐहिक भोगों के भोगने में ही अपना अहोभाग्य समझती है। उनका आकर्षण इस परमार्थ की ओर हो, इसीलिए आणवोपाय की सार्थकता का दिग्दर्शन संक्षिप्त शब्दों में करना पड़ा। भगवान् आप सबों को इस पारमार्थिक प्रांगण में विचरने का अवकाश दें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शांतिः।

यह मेरी सलाह है कि अधिक नही खाना चाहिये । कम भोजन करके अपने पेट को कुछ खाली रखना चाहिए । ऐसा करने से आप अपने शरीर को स्वस्थ अपने दिमाग को सर्वगामी और सावधान रख सकते हैं । अन्यथा आप अनाज से पूर्ण थैली की तरह स्थूलाकार बनोगे । आप अपना समय जंभाइयों और ऊँघने में ही नष्ट करोगे । जब आपका शरीर इस स्थिति में होगा तो आप एकाग्रता की उचित शक्ति को या अभ्यास के कार्य को खो बैठोगे ।

– ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज

शिवसूत्र—एक समीक्षात्मक विवेचन

समीक्षाकार —डा० बलजिन्नाथ पण्डित

गतांक से आगे

भगवद्गीता की वासवी टीका श्रीनगर में जनश्रुति में ख्यात पुस्तक तो है परन्तु उसके विषय में लिखित प्रमाण कोई अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। किसी में भी वासवी का कोई भी उल्लेख या उद्धरण नहीं मिल रहा है। हां लगभग आज से बीस वर्ष पूर्व श्रीनगर में राजकीय शोध संस्थान को वासवी की एक अधूरी पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है। वह पाण्डुलिपि इस समय कश्मीर विश्वविद्यालय के बृहत्पुस्तकालय के संस्कृत-पाण्डुलिपि कक्ष में विद्यमान है। मैंने कुछ वर्ष पूर्व उसे वहां के पुस्तकालय में एक बार देख लिया। उसमें गीता के अनेकों समस्यात्मक स्थलों की टीका को मैंने पढ़ा। तात्पर्य लगभग वही है जो आ० रामकण्ठ कृत भगवद्गीता भाष्य का है। परन्तु एक बात मैंने उस में अनोखी देखी। भगवद्गीता की तीन कश्मीरी टीकाएं इस समय मिल रही हैं। वह हैं – (१) रामकण्ठ की शैवी टीका (२) अभिनवगुप्त की शैवी टीका और (३) भगवद्भास्कर की वैष्णवी टीका। उन तीनों में गीता का मूलपाठ वही दिया गया है जो महाभारत की प्राचीन कश्मीरी शाखा में विद्यमान था। कश्मीर में चौदहवीं शताब्दी तक गीता का वही पाठ चल रहा था। अवन्ति वर्मा ने उसी पाठ को सुनते सुनते प्राणत्याग किया था। चौदहवीं शताब्दी में कश्मीर के ब्राह्मणों को अपने धर्म की रक्षा के लिए कश्मीर से भागना पड़ा। उस समय कश्मीर में पण्डितों के केवल ग्यारह घर किसी तरह से अपने को बचा सकने में सफल रहे। लगभग पच्चास वर्ष के अनन्तर कश्मीर के एक उदारविचारों वाले शासक सुल्तान ज़ैनुलाबदीन की प्रेरणा और प्रोत्साहन से कुछ और कश्मीरी पण्डित कश्मीर लौट आकर पुनः वहीं बसने लगे जो अभी तक थोड़े-थोड़े बस ही रहे हैं। वे लोग पंजाब से, जम्मू से और हिमाचल प्रदेश से जब पुनः कश्मीर लौट आए तो एक तो नए गणित के अनुसार गिना जाने वाला "भानुमासी" पंचांग अपने साथ लेते आए और दूसरे इन प्रदेशों में प्रचलित गीता के उस दाक्षिणात्य पाठ को भी साथ ले आए जिस का शङ्कराचार्य की शिष्य परम्पराओं ने प्रचार कर कर के केवल उन प्रदेशों में ही नहीं, अपितु सारे भारत में लोकप्रिय बना दिया था। वह दाक्षिणात्य पाठ उपरोक्त तीन कश्मीरी टीकाओं में नहीं है। तो उन तीनों से भी पहले रची गई वासवी में भी वह नहीं होना चाहिए था, उसमें भी काश्मीर शाखा वाले महाभारत के अनुसार ही गीता का मूल पाठ होना चाहिए था। परन्तु मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि वासवी की उस अधूरी पाण्डुलिपि में गीता का मूल पाठ दक्षिण वाला ही सर्वत्र है, कहीं भी कश्मीरी पाठ

नहीं है।

इन बातों के आधार पर दो प्रकार से अनुमान लगाया जा सकता है।(१) या तो वासवी की प्राचीन पाण्डु-लिपि में मूलपाठ दिया ही नहीं गया था केवल तात्पर्य व्याख्या ही अध्यायों के क्रम से दी गई थी और पश्चात् अर्वाचीन काल के किसी लिपिकार ने उस में मूलपाठ को जगह जगह भर दिया और वही भर दिया जो उसके समय में वहां प्रचलित था। यह एक क्लिष्ट कल्पना सी लगती है।(२) दूसरी बात यह हो सकती है कि किसी अर्वाचीन पण्डित ने रिक्त स्थान की पूर्ति करते हुए रामकण्ठ की टीका का आसरा लेकर के स्वयं वासवी नाम की अभिनव टीका का निर्माण करके अपने वैयक्तिक घरेलू पुस्तकालय की शान को बढ़ाने का यत्न किया हो। परन्तु सम्भवतः वह पण्डित इतना चतुर नहीं रहा हो कि मूलपाठ भी अभिनवगुप्ती गीता से या रामकण्ठी गीता से ही उतार कर रख देता। अस्तु, उस पाण्डुलिपि पर गहराई से शोधकार्य किए जाने पर ही उस समस्या पर निश्चय पूर्वक कुछ कहा जा सकता है। वसुगुप्त नाम के कई अन्य आचार्य भी हुए हैं। सिद्धान्तचन्द्रिका को उनमें से ही किसी ने लिखा होगा, क्योंकि उसका उल्लेख शैवदर्शन के किसी भी ग्रन्थ में मिलता नहीं।

आ० वसुगुप्त वस्तुतः स्पन्द तत्त्व के साक्षात्कार से उद्बुद्ध होने वाले स्वात्म-आनन्द के चमत्कारात्मक आस्वाद के अभ्यास में ही इतने मस्त रहते रहे होंगे कि उन्हें ग्रन्थ लिखने के प्रति प्रवृत्ति ही नहीं हुई होगी। तभी तो उन्होंने यह काम भट्ट कल्लट को ही सौंपा और स्वयं उस चर्वणा को छोड़ कर अपेक्षाकृत नीरस लेखन कला में प्रवृत्त ही नहीं हुए। शङ्कराचार्य के गुरु गोविन्द भगवत्पाद की भी प्रवृत्ति ऐसी ही रही। ऐसा सिद्ध जनों को बहुत बार हुआ करता है। आ० उत्पल देव बहुत बड़े बड़े लेखन कार्य कर चुकने पर यही चाहते रहे कि सतत गति से स्वात्म शिव के साक्षात्कार रूपी अमृत के आसव को ही पीते रहें। तभी उन्होंने संग्रहस्तोत्र में कहा है –

तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं
युष्मदर्चनरसायनासवम्।
सर्वभावचषकेषु पूरिते-
ष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः॥ (शि. स्तो. १३-८)

आचार्य अभिनवगुप्त ने सिद्धान्त और साधना के क्षेत्र में किसी में किसी भी विषय को छोड़ा नहीं। इतनी सारी सारस्वत कला की सृष्टि कर चुकने पर उन्होंने भी अन्त पर यही कहा कि मैं अब केवल पारमेश्वरी अद्वय कथा रूपिणी प्रेयसी के सङ्ग में विश्राम का

आनन्द ले रहा हूं –

विश्राम्याम्यहमीश्वराद्वयकथा कान्तासखः साम्प्रतम्। (ई.प्र.वि.वि.खं.३.अन्ते)

शिवसूत्र के जो तीन खण्ड इस समय कई एक टीकाओं समेत विद्यमान हैं उन्हें क्षेमराज ने क्रम से शाम्भव-उपाय, शाक्त-उपाय और आणव उपाय के प्रतिपादक कहा है। परन्तु उसके अन्तिम प्रकरण में वस्तुतः तीनों ही उपायों के अङ्ग प्रत्यङ्ग परस्पर मिले जुले से स्पष्ट झलक रहे हैं। फिर यदि प्रथम खण्ड का विषय शाम्भव-उपाय ही होता तो उस में उस उपाय के लक्षण, उदाहरण, भेद, प्रभेद आदि का निरूपण किया गया होता। परन्तु उसमें आनन्द योग का कोई स्फुट प्रतिपादन नहीं मिलता है और न ही शाम्भव योग के प्रधान अङ्ग बनने वाले मातृका-क्रम या मालिनी क्रम का ही स्पष्ट निरूपण कहीं मिल रहा है। इन बातों की ओर संकेत अवश्य हैं। परन्तु यदि सूत्रकार को उपायत्रय का ही निरूपण करना अभिप्रेत होता तो शाम्भव-उपाय में और अन्य उपायों में जो परस्पर अन्तर है उसपर भी जरा भर सङ्केत अवश्य किया गया होता और शाम्भव-उपाय के अङ्ग प्रत्यङ्गों का विश्लेषण भी किया गया होता जैसा कि तन्त्रालोक, तन्त्रसार आदि में किया गया है। शिवसूत्र के प्रथम खण्ड में शाम्भव उपाय के विषय में बहुत कुछ कहा गया है, परन्तु वह इस कारण से कहा गया है कि सूत्रकार वस्तुतः शाम्भवी साधना का ही उपदेश करना चाहता है। उसकी दृष्टि ऐसी है कि शाम्भव-उपाय ही आत्मसाक्षात्कार का वास्तविक साधन है। फिर सूत्रकार यह भी कहना चाहता है कि शाम्भव उपाय पर स्थिति आ जाने पर योगी को शाक्तउपाय द्वारा साध्यज्ञान स्वयमेव उद्बुद्ध हो जाता है।

उस ज्ञान को सहजविद्या कहा गया है। शाक्तोपाय में यथार्थ वस्तुस्थिति के विकल्पात्मकज्ञान को बुद्धि में ठहराकर उसके संस्कार को पुनः पुनः अभ्यास के द्वारा परिपक्व बनाना होता है। परन्तु शाम्भवयोगी को स्वयमेव विना किसी अभ्यास के ही विकल्प संस्कार सिद्ध हो जाता है और यथार्थ ज्ञान की दृष्टि स्वयमेव सहजभाव से ही खुल जाती है। उस सहजविद्या की दृष्टि के खुलने पर उसका दृष्टिकोण कैसा बनता है, इस प्रकार की बातों की ओर बहुत प्रकार के निर्देश शिवसूत्र के द्वितीय खण्ड में मिलते हैं। इस कारण से भट्ट भास्कर ने उस द्वितीय खण्ड को शाक्तोपायनिरूपण न कहते हुए "सहजविद्योदयः" ऐसा नाम दिया है। प्रथम खण्ड को उसने "चित्प्रकाशस्वरूपनिरूपणम्" यह नाम दिया है। शाम्भवी साधना से चिद्रूप आत्मा की संवित् स्वरूपता का प्रकाश स्वयमेव हो जाता है और उसी के फलस्वरूप योगी को शुद्धविद्या का उदय सहजभाव से ही हो जाता है। अतः शिवसूत्र के द्वितीय खण्ड का नाम यही समुचित है। यदि सूत्रकार को इस द्वितीय प्रकरण के द्वारा शाक्तोपाय का निरूपण करना अभिप्रेत होता तो उसके अङ्गभूत ज्ञानयोगात्मक

काली उपासना का, परा पूजा का, और उसके याग, होम, व्रत, स्नान, पूजन, योग आदि प्रकारों का भी निरूपण उसमें किया गया होता, जैसा कि तन्त्रालोक तन्त्रसार, विज्ञानभैरव, शिव-दृष्टि आदि में किया गया है। फिर इसमें मातृका-चक्र सम्बोध का उल्लेख नहीं किया गया होता, क्योंकि वह तो शाम्भव-उपाय का विषय है। तो भट्ट भास्कर की ही दृष्टि यथार्थ है। तदनुसार शाम्भव साक्षात्कार के स्थिर हो जाने पर अनेकों शाक्त भूमिका के चमत्कार शिव योगी को बिना यत्न के उद्बुद्ध हो जाते हैं। तो शाम्भवी साधना का उत्तम आनुषङ्गिक फल यह शुद्ध विद्या का सहज उदय है। सहजविद्या का उदय जब स्थिरता को प्राप्त हो जाता है तो योगी को अनेकों व्यावहारिक सिद्धियां स्वयमेव विना यत्न के प्राप्त होती हैं। उन सिद्धियों को विभूतियां कहते हैं। सूत्रकार ने शाम्भवयोग के द्वारा उद्बुद्ध होने वाली और सहजविद्या के उदय से स्पष्ट प्रकट होने वाली अनेकों व्यावहारिक विभूतियों का वर्णन शिवसूत्र के तीसरे प्रकरण में किया है। इस लिए भट्ट भास्कर ने इस प्रकरण को "विभूति स्पन्दः" नाम दिया है, क्योंकि जिन जिन विभूतियों का स्पन्दन शाम्भवी साधना से होता है उन्हीं को लेकर सूत्रकार ने इस की रचना की है। क्षेमराज ने इस प्रकरण को आणव-उपाय प्रकरण कहा है। यदि आणव उपाय ही इस का विषय होता तो ध्यान, उच्चार, करण, ध्वनि स्थान कल्पना, कालाध्वा, देशाध्वा, आदि जो आणव उपाय के प्रकार हैं उनका वर्णन इसमें किया गया होता। अतः यह आणव उपायों का प्रकरण नहीं है, अपितु शाम्भवी साधना के व्यावहाररिक फलों का निरूपण करने वाला प्रकरण है। तो सूत्रकार ने वस्तुतः एकमात्र शाम्भव-उपाय को ही स्वात्म साक्षात्कार का साधन बताया है। उस उपाय का नाम उसने "उद्यम" अर्थात् इच्छा शक्ति का तीव्र प्रयोग रखा है। कई एक सूत्रों के द्वारा उस का ढङ्ग थोड़ा बहुत जतलाकर उससे योगी की स्थिति कैसी हो जाती है और संसार के प्रति उसका दृष्टिकोण कैसा बनता है, इन इन बातों पर पहले प्रकरण में प्रकाश डाला गया है। तो शिवसूत्रों के प्रकरणों के नाम रखने में भी भट्ट भास्कर के ही विचार, सहज, स्वाभाविक और यथार्थ प्रतीत होते हैं। वस्तुतः उसे ऐसे रहस्य गुरुपरम्परा के साक्षात् उपदेश से प्राप्त हुए थे जब कि क्षेमराज के विचार उसकी अपनी ही कल्पना पर आश्रित हैं। वस्तुतः उसे नई नई कल्पनाओं के द्वारा अपने बुद्धिवैभव की तथा अपनी बहुश्रुतता की धाक जमाने का एक ओर से चस्खा था और दूसरी ओर से भट्ट कल्लट जैसे प्राचीन गुरुओं की परम्पराओं से ईर्ष्या थी, इसी कारण उसने ऐसी ऐसी असंगत कल्पनाएं कीं। वसुगुप्त गुरु से लेकर के अभिनवगुप्तगुरु तक का युग कश्मीर शैवदर्शन के वास्तविक विकास का युग रहा। क्षेमराज से लेकर के जो भी और विकास इस शास्त्र के वाङ्मय को प्राप्त हुआ, उसमें विकार की भी कोई मात्रा ओत प्रोत भाव से साथ चलती ही रही। तो उस युग को आंशिक विकार का युग भी माना जा सकता है। ऐसा प्रत्येक शास्त्र के इतिहास में हुआ करता है। अद्वैतवेदान्त

के विकार की पराकाष्ठा ही श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य है। गौतमीय न्यायदर्शन का विचित्र विकार गङ्गेश उपाध्याय के ग्रन्थों में मिलता है। व्याकरण सूत्रों की सरल रीति को भट्टोजिदीक्षित ने विकार का रूप दे दिया। संस्कृत काव्य कला का सौन्दर्य जब कालिदास की कला में पराकाष्ठा पर पहुँच गया तो उससे होड़ लेते हुए भारवि, माघ आदि ने उसे विकास की अपेक्षा विकार की ओर प्रेरणा दी। कुछ ऐसी ही बात काश्मीर शैव दर्शन के साथ क्षेमराज की कृतियों से हो गई। अस्तु !

शिवसूत्र की पूर्वोक्त दो परम्पराओं में न केवल व्याख्याओं में ही अन्तर है, अपि तु कहीं कहीं पाठभेद भी हैं। तदनुसार – शिवसूत्र के प्रथम प्रकाश के सातवें सूत्र का पाठ भट्ट भास्कर ने यह दिया है–

जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तभेदे तुर्याभोगसंवित्। (शि. सू. १-८)

परन्तु क्षेमराज ने जो पाठ दिया है वह यह है –

जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तभेदे तुर्याभोगसम्भवः। (शि. सू. १-८)

व्याख्या में विशेष अन्तर नहीं पड़ता है।

आगे क्षेमराज की परम्परा में प्रथम प्रकाश का १६वां सूत्र यह है–

शुद्धतत्त्वानुसन्धानाद्वाऽपशुशक्तिः। (शि.सू. १-१६)

भट्ट भास्कर की परम्परा में यहां अपशुशक्तिः इस समस्तपद के स्थान पर स्वपदशक्तिः तथा अनुसन्धानात् के स्थान पर केवल सन्धानात् ऐसा पाठ है दूसरा अन्तर यह भी है कि वहां इस एक सूत्र को दो सूत्र मान करके उनकी व्याख्या पृथक् पृथक् की है। तदनुसार वहां १६ वां सूत्र यह है –

शुद्धतत्त्वसन्धानाद्वा (शि. सू. १-१६)

और १७ वां सूत्र यह है – स्वपदशक्तिः (शि. सू. १-१७)

वर्तमान संस्करण का पाठ विशेषतया भट्टभास्कर के ही पाठ का अनुसरण करता है। परन्तु यदि कोई शोध छात्र इस संस्करण में से सूत्रों को उद्धृत करके क्रमसंख्या तदनुसार ही लिख दे तो आगे पढ़ने वाले भ्रम में पड़ सकते हैं। इस कारण से भट्ट भास्कर और क्षेमराज के द्वारा दी गई क्रम संख्या को समान बनाए रखने के अभिप्राय से वर्तमान संस्करण में इन दो सूत्रों की क्रम संख्या १६-१ और १६-२ दी जा रही है जिससे १७ से लेकर के आगे चलने वाली संख्या एक जैसी बनी रहे और पढ़ने तथा शोधकार्य करने वाले छात्र भ्रम में

उलझ न जाएं।

द्वितीय प्रकाश के चतुर्थ सूत्र का पाठ दो परम्पराओं में इस प्रकार का है –

गर्भे चित्तविकासोऽविशिष्टविद्या स्वप्नः। (शि. सू. २-४)

गर्भे चित्तविकासो विशिष्टोऽविद्यास्वप्नः। (शि. सू. २-४)

इन दो पाठों को मानते हुए की गई व्याख्याओं में जो अन्तर पड़ता है उसे आगे व्याख्यात्मक प्रकरण में स्पष्ट किया गया है।

तृतीय प्रकाश के चौदहवें सूत्र के अनन्तर भट्ट भास्कर के पाठ में एक और सूत्र विद्यमान है जिस का पाठ यह है –

विसर्गस्वाभाव्यादबहिः स्थितेस्तत्स्थितिः। (शि. सू. ३-१५)

यह सूत्र क्षेमराज के पाठ में कहीं है ही नहीं। छात्रों की उलझन का निवारण करने के लिए वर्तमान संस्करण में इस सूत्र की संख्या १४/२ दी जा रही है जिससे १५ से लेकर के सूत्र-क्रम-संख्या समान बनी रहे।

तृतीय प्रकाश के १८वें सूत्र में पदच्छेद और अवग्रह के आधार पर जो पाठ भेद माना गया है और उसके अनुसार जो व्याख्याएं की गई हैं उनमें थोड़ा सा अन्तर पड़ता है जिसे व्याख्यात्मक प्रकरण में स्पष्ट किया गया है। पाठ भेद ऐसे हैं –

विद्याविनाशे जन्मविनाशः। (शि. सू. ३-१८)

विद्याऽविनाशे जन्मविनाशः। (शि. सू. ३-१८)

उसी प्रकाश के २२ वें और २३ वें सूत्रों को उन दो परम्पराओं में आगे पीछे करके रखा गया है। एक परम्परा में जो २२ वां सूत्र है, वह दूसरी में २३ वां है और एक का २३ वां दूसरी में रखा है। व्याख्या में उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है। प्रस्तुत संस्करण में भट्ट भास्कर के ही क्रम को अपनाया गया है।

तृतीय प्रकाश के ३३ वें सूत्र में पाठभेद ऐसा है –

सुखासुखयोर्बहिर्मननम्। (शि. सू. ३-३३)

सुखदुःखयोर्बहिर्मननम्। (शि. सू. ३-३३)

व्याख्या में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

त्रिक साधना के तीन उपायों के स्वरूप का भी जराभर स्पष्टीकरण यहां आवश्यक

प्रतीत होता है। शाब्दीकल्पना से अनुस्यूत जो चित्त-विचारात्मक ज्ञान होता है उसे विकल्पज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान का साम्राज्य समस्त जाग्रत् व्यवहारों और स्वप्नात्मक व्यवहारों पर हुआ करता है। सुषुप्ति में चित्त प्रायः विचारहीन होकर ठहरता है। वहां वैयक्तिक और सङ्कुचित अहंरूप चेतना ही काम करती है। अतः वहां स्फुट विकल्पात्मक अवभास नहीं होता है। फिर भी उसे सर्वथा निर्विकल्प अवस्था नहीं कहा जाता है क्योंकि स्वरूप संकोच से युक्त और भेदमयी दृष्टि से अन्तः अनुस्यूत विशेष वैयक्तिक चेतना वहां प्रकाशित होती है जो अन्य वैयक्तिक चेतनाओं से भिन्न होती है। भेद की ऐसी अनुस्यूतता भी सूक्ष्मतर विकल्प कल्पना का ही फल होता है। शुद्ध निर्विकल्प अवस्था तो वस्तुतः तुर्या दशा में ही चमक उठती है। शाम्भव उपाय उस आत्म साक्षात्कार के अभ्यास को कहते हैं जिसमें चित्त जागता हुआ और सावधान रहता हुआ ही विषयहीन बना रहता है, विषयों के प्रतिबिम्बों को ग्रहण न करता हुआ ही सावधान बना रहता है और साङ्केतिक शब्दों की कल्पना जहां ज्ञान के भीतर अनुस्यूत होकर नहीं रहती है। उस अवस्था में चित्त की अवधान शक्ति संवित्स्वरूप आत्मा के प्रकाश के साम्मुख्य में उस प्रकाश के साथ एक हो जाती है और एकमात्र असीम, शुद्ध और सर्वशक्तिमान् "अहं" ही सर्वतः चमकता रहता है। असाङ्केतिक स्वभाव का शुद्ध स्वात्मविमर्शन ही यहां "अहं" होता है, चैत्र मैत्र आदि नहीं। इस दशा की अनुभूति साधारण मानवों को किसी भाव के तीव्र आवेश में क्षणभर के लिए हुआ करती है, परन्तु उस की स्थिति इतने सूक्ष्मतर काल के ही लिए ठहरती है कि उसका अन्तः परीक्षण (introspection) करना सम्भव ही नहीं हो पाता।

आत्मा की उस तुर्या स्वरूप स्थिति में चमकते रहने के अभ्यास को शाम्भवोपाय कहते हैं। इस उपाय में मन निवातदीप की तरह निश्चेष्ट बना रहता है। कुछ भी न सोचता हुआ सावधान बना रहता है, निद्रा में खो नहीं जाता। बुद्धि न तो विषयों के प्रतिबिम्बों को धारण करती है और न ही उनके विषय में नामों या आकारों की कल्पना ही करती है, परन्तु फिर भी जागती हुई सावधान बनी रहती है ; निद्रा में विलीन नहीं होने पाती। एकमात्र संवित् स्वरूप अपना आप ही अपने ही चित् प्रकाश से चमकता रहता है उसके इस प्रकार से चमकते रहने का अभ्यास शाम्भवोपाय कहलाता है।

आत्मस्वरूप की भी दो अवस्थाएं होती हैं। एक होती है अज्ञान कृत संकोच से युक्त जिसे सुषुप्ति कहते हैं। उसमें आत्म स्वरूप एकमात्र शुद्ध चेतना के रूप में शान्त भाव में और क्लेशहीन दशा में चमकता रहता है ; परन्तु उसमें ऐश्वर्य की कोई भी अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती है। प्राचीन माध्यमिक और योगाचार शाखाओं के बौद्ध भिक्षु चेतना के उसी स्वरूप का अभ्यास करते रहे। विवर्त्तवादी वेदान्ती भी प्रायः उसी स्वरूप की उपासना

करते रहे। जापान के जैन शाखा के बौद्ध भिक्षु अब भी उसी सौषुप्त चेतना का अभ्यास करते रहते हैं। इसी कारण से ये सभी सम्प्रदाय प्रायः अनीश्वरवादी हैं। वेदान्ती ईश्वर की ईश्वरता के मूल आधार को ब्रह्म के स्वरूप में देख नहीं पाए। अतः उस की व्याख्या के लिए ब्रह्म से अतिरिक्त तत्त्व माया की कल्पना करते आए। पातञ्जल योग के अभ्यासी भी सौषुप्त और वैयक्तिक चेतना से आगे नहीं बढ़ पाये। अतः ईश्वर को पुरुषविशेष मात्र मानते रहे, सृष्टि-संहार आदि लीलाओं का सूत्रधार उसे नहीं बताते आए। वर्तमान युग के कई एक योग सम्प्रदाय इसी सौषुप्त चेतना का अभ्यास सिखाते हैं ; जैसे कृष्णमूर्ति, महेशयोगी आदि के सम्प्रदाय। ये सभी योग शाम्भवोपाय के भीतर न आते हुए सुषुप्ति की साधना के उपाय हैं।

आत्मदेव के स्वरूप की उत्कृष्टतर अवस्था वह है जिसमें अहंरूप चेतना को ऐसी स्वसंवेदनात्मक अनुभूति हुआ करती है कि यह सारा संसार मुझ से प्रकट हुआ है, मेरे ही भीतर प्रतिबिम्बवत् चमक रहा है और मुझ से सर्वथा अभिन्न है। इसी दृष्टि से आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है –

मत्तएवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः॥ (तं. आ. ३-२८०)

शाम्भवोपाय में योगी को अपने इस प्रकार के ऐश्वर्यमय स्वरूप में प्रवेश करने के प्रति अपनी इच्छाशक्ति का सुप्रबल प्रयोग करना होता है। वैसा प्रयोग करते ही उसे ऐसा साक्षात्कार हो जाता है कि यह छत्तीस तत्त्वों वाला जगत उसी की अहंरूपिणी असीम संवित् के भीतर प्रतिबिम्बवत् चमक रहा है। उसे अपनी संवित् के ऐश्वर्य के सोलह पहलुओं का साक्षात्कार होने लगता है जो सोलह स्वरों के साथ अमेदभाव से चमक उठते रहें। फिर उसे अपनी पारमेश्वरी शक्तियों के प्रतिबिम्ब छत्तीस तत्त्वों के रूप में चमकते हुए अनुभव में आते रहते हैं और वे प्रतिबिम्ब उसे क से लेकर श तक के व्यञ्जनवर्णों के साथ अमेदभाव से चमक उठते हैं। इतनी सारी अनुभूति उसे स्वसंवेदन से अर्थात् अपनी चेतना के प्रकाश से ही हुआ करती है। उसका अपना "अहं" ही इन सभी प्रतिबिम्बों को लेकर के चमक उठता है। उसकी बुद्धि या उसका मन इस साक्षात्कार में कोई सहयोग न तो देते ही हैं और न दे ही सकते हैं। वे भी अहं के चित्प्रकाश के भीतर प्रतिबिम्बवत् ही चमकते रहते हैं। इस प्रकार के आत्मसाक्षात्कार के अभ्यास को शाम्भव उपाय कहते हैं। यही आत्मदर्शन कर साक्षात् उपाय है। जब यही उपाय परिपक्व हो जाता है तो तब इच्छाशक्ति का विशेष प्रयोग किए बिना ही योगी को अपने ऐसे स्वरूप का साक्षात्कार होने लगता है। ऐसी स्थिति में शाम्भव-उपाय ही अनुपाय कहलाता है। इसी अनुपाय साक्षात्कार के विषय में आचार्य

उत्पल देव ने शिवस्तोत्रावली में कहा है–

न ध्यायतो न जपतः स्याद् यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्।। (शि. स्तो. १-१)

ऐसा अनुपाय साक्षात्कार योगी को तब होता है जब उसे इसके प्रति अतिशय प्रेम हृदय में उमड़ आए। तभी तो इसे भक्ति कहा गया। शाम्भवोपाय को इच्छोपाय और अनुपाय को आनन्दोपाय भी कहते हैं। इच्छायोग और आनन्दयोग भी इनके अन्य नाम हैं।

शाम्भव-उपाय पर पक्की स्थिति के हो जाने पर शाक्त उपाय की विभूतियां स्वयमेव उद्बुद्ध हो जाती हैं। उनके ऐसे उद्बोध को ही भट्ट-भास्कर आदि ने सहज-विद्योदय कहा। फिर शाक्त उपाय से प्राप्य फल भी अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। वैसा हो चुकने पर आणव-उपाय की विभूतियां भी स्वयमेव परिस्पन्दित हो जाती हैं। तभी तो इस तृतीय भूमिका को विभूतिस्पन्द कहा गया।

शाक्त उंपाय के अभ्यास में अपने वास्तविक परमेश्वरतात्मक स्वभाव के विकल्पात्मक ज्ञान का पुनः पुनः अभ्यास करना होता है इसीलिए इस उपाय को ज्ञानोपाय या ज्ञानयोग कहा गया है।

"मैं परमेश्वर हूं, यह जगत मेरी सृष्टि है, सब कुछ मुझ में है, मैं ही सर्वत्र हूं, मैं ही सारे जगत का संचालक हूं, सब कुछ तो मैं ही हूं और सब कुछ से परे भी मैं ही हूं।" इस प्रकार की भावना के अभ्यास को शाक्त उपाय कहते हैं। ऐसी भावनाओं का अभ्यास सतत गति से इतना अधिक करना होता है कि ये भाव साधाक की आत्मा पर इतने गहरे अङ्कित हो जाएं कि जीवभाव के उसके घने संस्कार मिट ही जाएं। इस शाक्त उपाय के अनेकों ही प्रकार होते हैं जिन्हे तन्त्रालोक, तन्त्रसार, विज्ञान भैरव, शिवदृष्टि आदि ग्रन्थों में विस्तार से कहा गया है।

शाम्भव उपाय आलम्बहीन होता है। शाक्त उपाय में चित्त का आलम्बन अभ्यासी का अपना आप ही बनता है। यह शुद्ध विकल्पमय अभ्यास होता है जिससे अशुद्ध विकल्प के संस्कार क्षीण होते हुए मिट ही जाते हैं। आणव-उपाय भी विकल्पज्ञानमय ही होता है। परन्तु इसमें आत्मा से अतिरिक्त कई एक प्रमेय पदार्थ भावना के आलम्बन बनते हैं। फिर इस उपाय में मानसी क्रिया की, अर्थात् कल्पनात्मक प्रयत्न की, प्रधानता बनी रहती है। शाक्तोपाय में उस क्रिया के ज्ञान रूप अंश की प्रधानता रहती है और मानस यत्न रूप क्रियांश गौण होकर मानसी कल्पना का प्रयत्नात्मक अंश ही प्रधानतया उभरा रहता है। अतः इस उपाय को क्रिया योग या क्रियोपाय भी कहते हैं। इस दृष्टि के अनुसार पातंजलयोग

सारे का सारा क्रिया योग ही है। आणव योग के आलम्बनों में से सब से ऊंचा स्थान बुद्धि का है, क्योंकि बुद्धि का स्थान आत्मचेतना के निकटतम है। बुद्धि को आलम्बन बनाकार उस पर परिपूर्ण शिवभाव की भावना के अभ्यास को त्रिक शास्त्र में बुद्धि-ध्यान कहते हैं जो पातञ्जलयोग के ध्यान से भिन्न है। बुद्धि के बाद स्थान आता है जीवन शक्ति रूप प्राण का जिस की पांच वृत्तियों को प्राण, अपान आदि नाम दिए गए हैं। इन प्राणवृत्तियों के व्यापारों पर शिवभाव की भावना के द्वारा जो अभ्यास किया जाता है उसे उच्चार योग कहते हैं। इस योग के अभ्यास से आत्म-आनन्द की छः भूमियों की अनुभूति हो जाती है जो एक दूसरे से उत्कृष्ट हैं। इन्हें क्रम से निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द और चिदानन्द कहते हैं। इन छः भूमिकाओं से परे जो सर्वथा असीम आत्मआनन्द होता है उसे जगदानन्द कहते हैं। उच्चार योग के अभ्यास में साधक एक एक करके आत्म आनन्द की इन सभी भूमिकाओं को पार कर के अन्ततो गत्वा जगदानन्द की स्थिति में जब प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसे अपने परिपूर्ण परमेश्वरभाव का साक्षात्कार हो जाता है। ऐसा होते होते उसके भीतर पांच चिह्न प्रकट हो जाते हैं जो उस अभ्यास की सफलता को जतलाते हैं। (१) पहले तो परिपूर्णता के स्पर्शमात्र से उसे आनन्द का आस्वाद आने लगता है। (२) तदनन्तर ज्यों ही वह उस आनन्दमयी चेतना में प्रवेश करने लग जाता है तो उस का शरीर उछलने लगता है। (३) स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के साथ उसका जो आत्मस्वरूपता का भाव जन्म जन्मान्तरों से चला आता है जब वही भाव संवित् के भीतर विलीन होने लगता है तो उसका शरीर थरथराता है। (४) शुद्ध संवित् के भीतर प्रवेश करते ही उसे निद्रा आने लगती है और (५) संवित् स्वरूपता पर पूरी तरह से आरूढ़ हो जाने पर वह झूमने लग जाता है। उच्चार योग के ऐसे ऐसे रहस्यों पर आ० अभिनवगुप्त ने विस्तार से प्रकाश डाला है। योग के ऐसे रहस्यात्मक प्रकारों का बौद्ध, जैन, पातञ्जल, गोरक्ष, वैष्णव आदि योगशास्त्रों में उल्लेखमात्र भी नहीं मिलता है और न ही आत्म-आनन्द का ऐसा विश्लेषण कहीं अन्यत्र मिलता है।

अवरोहक्रम में आणव उपाय के तीसरे स्तर के योग को करणयोग कहते हैं। इसमें शरीर के भिन्न भिन्न नाड़ीचक्रों में भिन्न भिन्न प्रकार की धारणाओं के अभ्यास से भिन्न भिन्न प्रकार की योगसिद्धियां अनायास ही प्राप्त हो सकती हैं। उन सिद्धियों का दुरुपयोग भी हो सकता है। अतः आ० अभिनवगुप्त ने उन धारणाओं का स्पष्टीकरण नहीं किया हे। चौथे स्तर के आणव योग का अभ्यास श्वासप्रश्वास की ध्वनि पर चित्त को एकाग्र करके और उसपर विशेष बीजमन्त्रों का आरोप करके उन मन्त्रों से अभिव्यक्त होने वाले तत्त्व ज्ञान की भावना के द्वारा किया जाता है। यह प्रचलित राजयोग के अजपायोग के काफी

समीप आ जाता है। पांचवें प्रकार के आणव योग को बाह्ययोग कहते हैं। उसमें अपने शरीर से बाह्य देश और काल को धारणा का आलम्बन बनाया जाता है। देश के सूक्ष्मतर स्वरूप को कला (निवृत्ति आदि पांच) कहते हैं। एक एक कला कई कई तत्त्वों को व्याप्त करती है। तत्त्वों के ऐसे सूक्ष्मतर स्वरूपों को ही कला कहते हैं। पांच कलाओं के विकसित रूप छत्तीस तत्त्व हैं। उन तत्त्वों से बने हुए ११८ भुवन है। भुवन स्थूलाकार हैं तत्त्व सूक्ष्माकार हैं और कलाएं सूक्ष्मतर आकार की हैं। इस तरह से देशाध्वा तीन प्रकार का है। काल की गणना ज्ञानक्षणों से आरम्भ होती है। ज्ञान क्षणों को वर्णों से अक्षरात्मक बीज मन्त्रों से और शब्दात्मक पदों से मापा जाता है। अतः कालाध्वा के ये तीन प्रकार बनते हैं। साधक अपने एक एक श्वास प्रश्वास के भीतर मुहूर्त्त, घटिका, प्रहर, अहोरात्र, मास, वर्ष, युग, कल्प, महाकल्प आदि काल परिमाणों की भावना करता है। उससे वह काल की सीमा से मुक्त होकर अकाल बन जाता है। वह अपने शरीर के भीतर भिन्न भिन्न देशों को, भुवनों को, तत्त्वों को और कलाओं को भी भावना के अभ्यास से समा लेता है। उससे वह देशकृत सीमा से छुटकारा पा जाता है और साथ ही भिन्न भिन्न भुवनों में प्राप्य ऐश्वर्य के भोगों को प्राप्त करता है। इस तरह से इस बाह्ययोग से मुक्ति की प्राप्ति के साथ ही साथ क्रम से मुक्ति की ओर गति होने लग जाती है। इस बाह्य योग को षडध्वयोग या स्थानकल्पना योग भी कहते हैं। इसमें काल के तीन और देश के तीन अध्वा आते हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया।

शिवसूत्र में त्रिकयोग के इतने प्रपञ्चों को छुआ भी नहीं गया है। वहां केवल शाम्भवयोग का सामान्य निरूपण और उसकी परिपक्वता से प्राप्य फलों का निरूपण किया गया है। परन्तु क्षेमराज ने इस ग्रन्थ को तीन योगों का प्रतिपादक माना है, इस कारण से उसके ऐसे विचार पर आलोचनात्मक अध्ययन करने के लिए त्रिक आचार के तीनों ही योगों का संक्षिप्त दिग्दर्शन यहां कराना पड़ा। अन्यथा केवल शाम्भव-योग का निरूपण करना ही पर्याप्त होता। अस्तु।

वासना

देवी श्री शारिका जी

संसार छुय मूह जंजाल
वासना गाल वासना गाल।
अऽसअ वाहरअविथ छु काल शाहमार
वासना गाल वासना गाल॥

अज्ञानऽच्य छय गअज्य वुहवुन्य
कामक्रोध लूभ छुस पाकनावान।
भूगान तथ छुय जीवकंगाल
वासना गाल वासना गाल॥

वासना छय शुन्गिथ शाहमार
वासना जन तअ यच्यऽकोल बेमार।
विषयन वुछिथ गछान हुशियार
वासना गाल वासना गाल॥

बाज़गश फेर शिवभाव प्राव
सोरुय जगथ म्यय मंन्ज द्राव।
प्रथमाभासय परजनाव लाल
वासना गाल वासनागाल॥

अथ्य थानस वनान छि शमशान
अत्यि रोजान पानअ भगवान।
भीद ज़अल्यिथ भसमा मुड़्चांन
वासना गाल वासना गाल॥

अत्यि नो रोजान छिय छल बल
अत्यि नो रूध कामुक बल।
अथ्यी ज़ागि रोज़ रोज़ी न काल
वासना गाल वासना गाल॥

(हिन्दी रूपान्तर)

प्रो० मखनलाल कुकिलू

भव है मोहममता का जाल
करो वासना का संहार।
काले काल भुजंगमों ने
फैलाये हैं विततफणद्वार
करो वासना का संहार॥

तमकी ज्वाला भड़क रही है
बना कामादित्रय सामान।
जीव बेचारा दीनदरिद्र बन
फल पाता करता व्यवहार।
करो वासना का संहार॥

अचेत वासना सुप्त उरग सी
तेजहीन मनु चिर बीमार
विषयास्वाद का स्मरण कर कर
हो जाती पूरी हुशियार।
करो वासना का संहार॥

प्रत्यावर्तन करो विश्व से
निज शिवभाव की कर पहिचान
करो मनन इसी मन्त्र का
अखिल विश्व मेरा विस्तार
प्रथमाभास में परखो लाल।
करो वासना का संहार॥

कहते इस को ही शमशान
यही है शिव का वासस्थान
भेदमूर्ति राख हो जाती
जलकर बन बीती पहिचान।
करो वासना का अवसान॥

अहं परामर्श के रंग में
काले मल भी बनते उज्ज्वल

छलकपट रतिभाव न रहता
प्राणी जिसे समझता संभल
सदा समाहित रहो काल का सहज में पावोगे निस्तार।
करो वासना का संहार॥

शैवदर्शन के वातायन से

प्रो० नीलकण्ठ गुरुटू

प्रमाता– किसी भी प्रकार की जड़ पांच भौतिक काया में बैठा हुआ चित्-अंश, जो कि बाहरी विश्वभर में जानकारी के विषय बनने वाले घट, पट आदि या सुख, दुःख इत्यादि प्रकार के भावों की प्रामाणिक जानकारी, प्रतिक्षण और प्रत्येक अवस्था में प्राप्त करता रहता है, 'प्रमाता' कहलाता है।

इस लक्षण के अनुसार संसार का हरेक बड़े से बड़ा या छोटे से छोटा जीवधारी, अपने अपने स्थान पर अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल पदार्थों का अनुभव करते रहने के कारण 'प्रमाता = प्रमेय विषयों का अनुभावी' होता है परन्तु प्रस्तुत दार्शनिक प्रसंग में प्रमाता शब्द से मानव-प्रमाता का ही अभिप्राय लिया जाता है, क्योंकि संकुचित चित् अंश (आत्मा) को मानव काया में रहते हुए ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है, किसी और प्रकार की काया में नहीं।

वास्तविक स्थिति यह है कि सारे विश्व में केवल एक ही चित्-घन परमशिव प्रमाता है, और अन्य सारे अनगिणत प्रमाता उसी असीम चित्-भाव के नगण्य अंशों का विस्तार मात्र हैं।

प्रमेय – विश्व का कोई भी ऐसा पदार्थ जिसकी सिद्धि प्रमाणों से की जाती है, और जो प्रतिक्षण प्रमाता के अनुभव का विषय बन जाता है, 'प्रमेय' कहलाता है।

यह महान हर्ष का विषय है कि सद्गुरु महाराज की निर्वाण जयन्ती पर "शैवदर्शन के वातायन से" नामक मालिनी में एक नया स्तम्भ आरम्भ किया जा रहा है। इस में शैवदर्शन साहित्य के अनुशीलन में जो पारिभाषिक शब्द आते हैं उनका क्रमशः स्पष्टीकरण सरल बुद्धिगम्य भाषा में संस्कृत विद्वान शैवशास्त्र मर्मज्ञ प्रो० गुरुटू साहब करते रहेंगे। इस विषय में जिन पाठकों के तथा बुद्धिजीवियों के सुझाव हमें आये थे यह उन्हीं के प्रयास का परिणाम है। हमें आशा है कि पाठक इन शब्दों का अच्छी तरह से मनन करेंगे और हमें समय-समय पर अपने सुझावों से कृतार्थ करेंगे।

प्रमेय पदार्थों के दो भेद हैं – (१) नील और (२) सुख। (१) 'नील' शब्द से ऐसे प्रमेयों का अभिप्राय लिया जाता है जिनका अपना कोई निश्चित नाम-रूप एवं परिमाण इत्यादि हो, और पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषय बन जाते हों - जैसे घडा, कपड़ा, पर्वत, नदी इत्यादि। (२) 'सुख' शब्द से ऐसे प्रमेयों का अभिप्राय लिया जाता है जो अपना कोई स्थूल नामरूप, परिमाण इत्यादि न होने के कारण पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषय नहीं बन सकते, प्रत्युत तीन अन्तःकरणों के द्वारा अनुभव किए जाते हैं। उदाहरणार्थ सुख, दुःख, भय, राग, द्वेष इत्यादि प्रमेय 'सुख' प्रमेय कहे जाते हैं।

प्रमाण – कोई साधन या कथन जिसके द्वारा प्रमाता किसी प्रमेय पदार्थ का यथार्थ ज्ञान सिद्ध कर लेता है उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाणों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। अलग अलग दर्शनों में अलग अलग प्रमाणों की संख्या स्वीकारी गई है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं आप्तवाक्य मुख्य प्रमाण माने गए हैं। इनमें से भी प्रत्यक्ष को ही अत्यधिक महत्व दिया गया है। इसको अन्य सारे प्रमाणों की आधारशिला स्वीकारा गया है।

प्रमिति – किसी भी प्रमेय पदार्थ की प्रमाणों से प्रमाणित एवं यथार्थ जानकारी को 'प्रमिति' कहा जाता है।

प्रमातृता – प्रतिसमय और प्रत्येक अवस्था में सम्पर्क में आने वाले प्रमेय विषयों के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करते रहने वाले प्रमाता का स्वयंसिद्ध स्वभाव अर्थात् प्रमेयों के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने के रूपवाला अकाट्य स्वभाव, प्रमातृता या प्रमातृभाव कहा जाता हे।

चित् – इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया इस त्रिपुटी के निर्विराम, स्वभाव सिद्ध, शाश्वतिक एवं स्वतन्त्र स्पन्दन को चित्, चित्-शक्ति, चैतन्य, चेतनता एवं चित्-भाव इत्यादि शब्दों से अभिव्यक्त किया जाता है। यही सर्वव्यापी जीवन तत्त्व होने के कारण आत्मा का स्वयंसिद्ध स्वरूप समझा जाता है। परिपूर्ण चित् या चैतन्य केवल परमशिव है।

शेष जगत् में दिखाई देने वाले जीवित पदार्थ उसी असीम चित्-सागर के नगण्य अंश हैं। चित्-भाव किसी भी परिस्थिति में केवल प्रमातृभाव पर प्रतिष्ठित रहकर सारे प्रमेय-विषयों को अपने रूप में सत्ता प्रदान करता है। इस विषय में शास्त्रकथन इस प्रकार है–

तथा हि जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया।
ज्ञानं क्रिया च जीवानां जीवतां जीवनं मतम्॥

(तात्पर्य यह है कि जड प्रमेय विषयों की प्रतिष्ठा जीवित भावों पर निर्भर होती है, और ज्ञान एवं क्रिया का स्वभावसिद्ध स्पन्दन ही जीवित भावों का जीवन होता है) – ईश्वर प्रत्यभिज्ञा।

चित्-भाव त्रिकालाबाधित अस्तित्व है और इसमें कभी कोई स्वरूप-परिवर्तन या स्वरूप

विप्रलोप नहीं होता है।

आनन्द – चित्-भाव की परिणति को ही आनन्द या रसवत्ता कहा जाता है। जिस वस्तु का अस्तित्व अविनाशी हो उसका आनन्दमय (स्वरस पूर्ण) होना तो स्वाभाविक ही है। चित्ता ही आनन्दता और आनन्दता ही चित्ता है। चित् और आनन्द इस प्रकार का द्वैत केवल कहने-सुनने तक ही सीमित है। वस्तुतः 'चिदानन्द भाव' एक ही परमेश्वर स्वभाव है। केवल परशिव पूर्णरूप में चिदानन्द धन हैं।

गहन – माया-तत्त्व को शास्त्रीय परिभाषा में 'गहन' कहते हैं। इसके अतिरिक्त इस शब्द से 'गहन' नामवाले रुद्र (शिव का रूपान्तर) का अभिप्राय भी लिया जाता है।

पर – विशुद्ध चिदानन्द भूमिका अथवा शिव-शक्ति-सामरस्य की भूमिका का शास्त्रीय नाम 'पर' है।

परस्थ – पर भूमिका पर नित्य-प्रतिष्ठित परमशिव परस्थ कहा जाता है।

गुहा – रुद्र और क्षेत्रज्ञ इन दोनों प्रकार के प्रमाताओं के अनुर्वर्ती 'हृदय' अर्थात् शक्ति के अभ्युत्थान के स्थान को गुहा कहते हैं।

श्यानता – किसी भी तरल पदार्थ के जमे हुए रूप को उस पदार्थ का श्यान या आश्यान रूप कहा जाता है। उदाहरणार्थ बर्फ जल का या दही दूध का आश्यानरूप कहा जाता है। इसी प्रकार तरलातितरल चित्-भाव का आश्यानरूप स्थूल विश्व है। फलतः सूक्ष्मता को छोडकर स्थूलता का अङ्गीकार करने के भाव को श्यानता या आश्यानता कहते हैं।

किसी भी पदार्थ के ये दो रूप (तरल एवं श्यान) दो भिन्न पदार्थ नहीं होते हैं जिस प्रकार बर्फ और जल दो भिन्न पदार्थ नहीं, प्रत्युत जल के ही दो रूप होते हैं। स्पष्ट है कि तरल शिवभाव ओर उसी का श्यानरूप जगत्-भाव आपस में भिन्न नही, प्रत्युत अभिन्न हैं। शिव ही जगत् और जगत् ही शिव है। यही तो शिव-शक्ति-सामरस्य का परमोच्च रहस्य है।

ऊपर हिम था नीचे जल था, एक सघन था एक तरल।
एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड या चेतन॥

(कामायनी)

स्वात्त्म-प्रच्छादन – अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाते रहने का स्वभाव। अख्याति के आवरण को डाल कर स्वरूप को छिपाना चित्-भाव का सहज स्वभाव है। स्वरूप के छिपाव को ही शास्त्रीय शब्दों में 'स्वात्त्म-प्रच्छादन' कहते है। यह भी परमेश्वर की क्रीडा का विकास या विलास है।

शुद्धाध्व – माया-तत्त्व से ऊपर शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव शक्ति एवं शिव इन पांच तत्त्वों को शुद्धाध्व कहते हैं क्योंकि इनमें माया-तत्त्व की रंचमात्र भी प्रभावशालिता नहीं चल सकती है।

अशुद्धाध्व – माया-तत्त्व और उसके अनुगामी अन्तिम पृथिवी तत्त्व तक के विस्तार को अशुद्धाध्व कहते है। क्योंकि इसमें पग पग पर माया का प्रभाव व्याप्त होता है।

रुद्र एवं क्षेत्रज्ञ – शुद्धाध्व पर पहुँचे हुए प्रमाताओं को रुद्र, और अशुद्धाध्व पर अवस्थित प्रमाताओं को क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

उपलब्धृता – उल्लिखित प्रमातृता या प्रमातृभाव को ही दूसरे शब्दों में उपलब्धृता, वेदकता, ग्राह्यता इत्यादि शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है।

क्रमशः

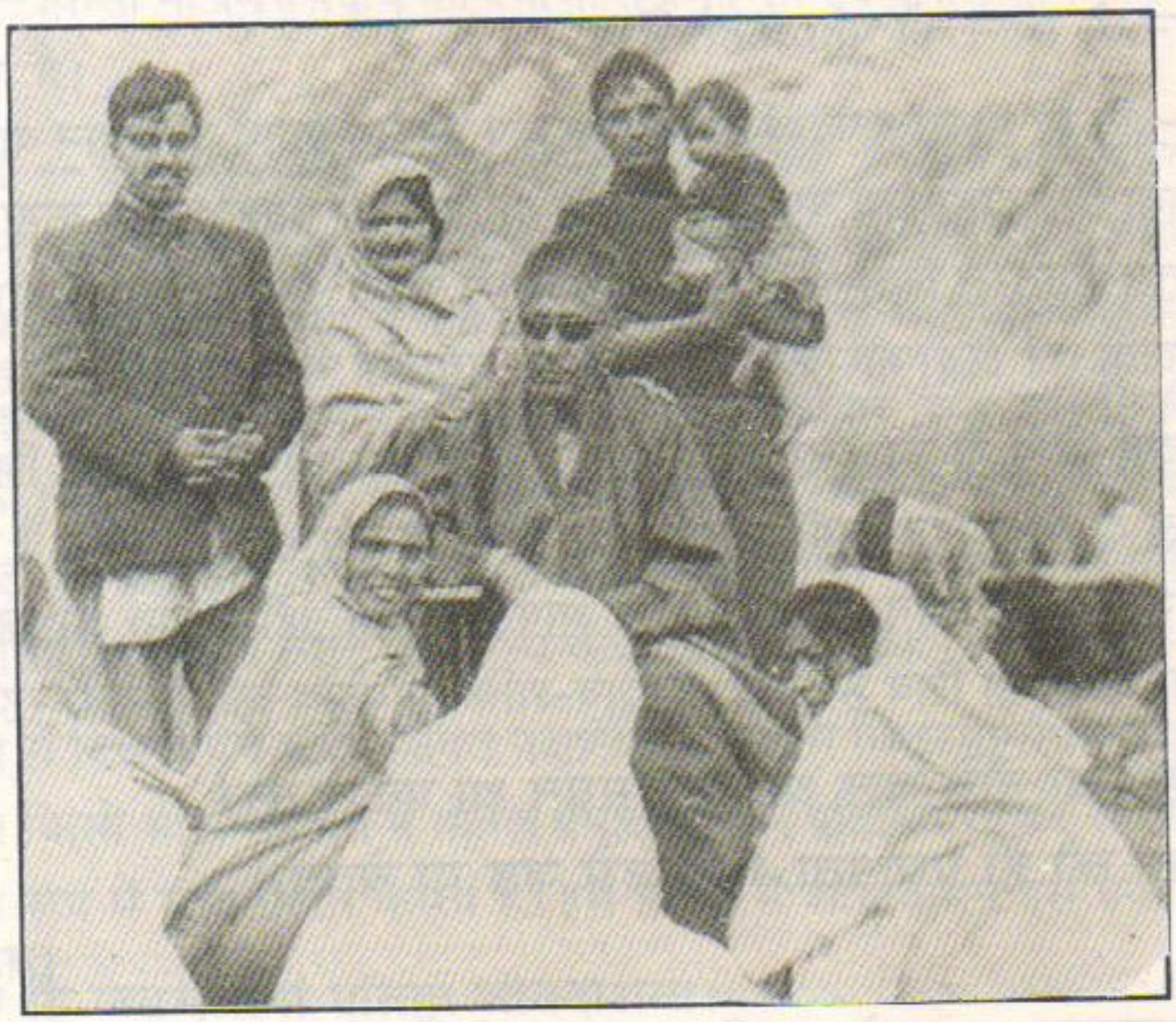

अमरेश्वर की अमरयात्रा कर लौटे जब ईति भीति हर।
भक्त शिष्यों में बैठ मस्त बन, सोऽहं समझाते हो तत्पर।।

पूर्व-स्मृति के सुवर्ण क्षणों की प्रत्यभिज्ञा

श्रीमती प्रभादेवी जी

हमारे आराध्य शिव-स्वरूप गुरु-वर्य ने हमें बाल्यकाल से ही परमार्थ के रंग में रंगा। अपनी अनन्य अनुकंपा से हमें शैव-शास्त्र पढाया, सिखाया तथा मनन भी कराया। शास्त्र-जाल में न फंसा कर उसके तात्त्विक रहस्य को समझाया। ई० सन् १९४४ से ही शैवी-ग्रन्थों की ओर रुचि बढ़ाई। आगे जाकर जब शिष्य-वृन्द आने लगे तो उनके हितार्थ गुप्त-गंगा के हॉल में तन्त्रालोक की व्याख्या कश्मीरी भाषा में प्रति रविवार को करने लगे। ई० सन् १९७१ में सामुदायिक रूप में तन्त्रालोक के पांचवें आह्निक में वर्णित आणवोपाय के श्लोकों का अर्थ कश्मीरी भाषा में सुलझाया। यद्यपि महाराज जी ने अनुपाय, शांभवोपाय तथा शाक्तोपाय के आह्निक भी तन्मयता से पढ़ाये थे, तथापि आणवोपाय का संबन्ध तो सर्व-साधारण साधक के साथ जुटा हुआ है। अतः इस में वर्णित 'वर्ण-तत्त्व' प्रमेय के कुछ एक श्लोकों का दिग्दर्शन कराना ही इस लेख का विषय है:-

उक्तो य एष उच्चार
स्तत्र योऽसौ स्फुरन् स्थितः।
अव्यक्तानुकृतिप्रायो
ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते॥ *तन्त्रालोक ५ आ० १३१ श्लो०॥*

पीछे वर्णित जो यह प्राणन रूप चिदात्मा का उच्चार कहा है, उस में जो यह सदा उदित उच्चार अवस्थित ही है, उस का प्रत्यक्षीकरण ध्वनि, वर्ण रूप से किया जाता है।

इस श्लोक को समझाते हुए महाराज जी ने कहा– अनथक रूप से प्राणापान की उपासना के पश्चात् जिस किसी अवस्था विशेष का अनुभव होता है, उसे प्राणोच्चार कहते हैं। इसी प्राणोच्चार की ओर, ऊपर वर्णित श्लोक में संकेत है। तन्त्रालोक के पूर्व-वर्णित श्लोकों में जिस, निजानन्द, निरानन्द आदि षडानन्द का उल्लेख हुआ है वे भी प्राणोच्चार में ही सम्मिलित हैं। इस के अतिरिक्त "ॐ नमः शिवाय" मंत्र का सतत उच्चारण करने के बाद जो नाद साधक को अनुभव में आता है, उसे भी प्राणोच्चार ही कहते हैं। यह प्राणोच्चार जिसे ध्वनि, वर्ण तथा नाद भी कहते हैं, यह तो उच्चार काल तथा अनुच्चार काल में भी सदा ही है। इसीलिए इसे अनाहत नाद भी कहते हैं। अक्षर दो प्रकार के हैं– एक तो साधारण अक्षर रूप और दूसरा विमर्श रूप। इस नाद को वैसे अक्षर नहीं कहना चाहिये था, किंतु संपूर्ण अक्षरों और वर्णों की उत्पत्ति इसी अनाहत नाद से ही हुई है अतः इसे अक्षर कहना

समीचीन ही है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि – इस प्रकार का अव्यक्त अनाहत वर्ण किस उपासना से अनुभव में आता है ? इस पर कहते हैं–

"सृष्टिसंहारबीजं च
तस्य मुख्यं वपुर्विदुः॥ १३२॥

उस नाद का मुख्य स्वरूप सृष्टि तथा संहार बीज है। इस ग्रन्थि को महाराज जी ने यूं सुलझाया–

उपासना-क्रम में "ॐ नमः शिवाय" यह तो स्वर-सहित बीजाक्षर है और 'क्लीं' आदि स्वर-रहित होने पर पिंडाक्षर कहलाते हैं। इसीलिए पराबीज सौः और र्‌क्षख्ऐं पिंडनाथ कहलाया जाता है।

इधर ये दोनों उपासना-क्रम में यानी अहं परामर्श दशा में 'सौः' सृष्टि-प्रधान माना गया है और 'महअ' परामर्श दशा में र्‌क्षख्ऐं संहार-प्रधान है। इस कथन को और भी स्पष्ट करते हुए गुरुवर्य ने कहा–अहं परामर्श को इदंता में देखना सृष्टि है तथा इदंता को 'अहं' में देखना संहार है।

प्रश्न-कर्त्ता कहता है–इस भांति विमर्श करने से फल क्या होगा ? इस पर कहते हैं

"तदभ्यासवशाद्याति
क्रमाद्योगी चिदात्मताम्॥

इस अन्तर्नाद का अभ्यास करने से योगी चिद्‌रूपता को प्राप्त करता है।

इस आधे श्लोक की व्याख्या करते हुए गुरु महाराज ने कहा–

सच तो यह है कि वर्ण का स्वरूप चिदात्मरूप ही है किंतु इस के जप से अनाहत रूपता कैसे सिद्ध होगी- इस को स्पष्ट करते हैं–अनच्क (स्वर) रहित पिंडाक्षर तथा अच् (स्वर सहित) बीजाक्षर यानी र्‌क्षख्ऐं तथा सौः का बार बार उच्चारण विमर्शपूर्ण किया हो साथ ही 'तदर्थभावना' भी की हो तो वह अभीष्ट संवित् को उत्पन्न करता है। व्यक्ति, जिस फल की इच्छा करे उसे वह फल-प्राप्ति होती है।

अब जो व्यञ्जन स्वर'रहित हैं यानी पिंडाक्षर मन्त्र तथा जीवः स वर्ण वामजंघा यानी औकार सहित (सौः)। इसी भांति मन्त्र-समुदाय का न केवल जप करने से अपितु उनके सार्थक स्वरूप का ध्यान करने से इन मन्त्रों का तत्त्व भली-भांति अनुभव में आता है साथ

ही रोगी को भयावह कष्ट से छुटकारा तथा मृत्यु-ग्रस्त शिष्य को आप्यायन करना आदि सभी कामनायें सिद्ध होती हैं।

महाराज जी ने कहा—मालिनी विजय-तंत्र में मालिनी-न्यास तथा मातृका-न्यास का वर्णन करते हुए प्रत्येक अंग में वर्णमाला के अक्षरों का स्थान निर्धारित किया है। वहां वामजङ्घा में औ वर्ण को स्थान दिया है। अतः 'औ' का पारिभाषिक नाम वाम-जंङ्घा ही पड़ा।

इस भांति 'वर्णतत्त्व' प्रमेय में अति रोचक और हित-प्रद विषय निहित हैं। लेख का कलेवर न बढ़े अतः इस प्रसंग को यहीं पर समेट रहे हैं।

ॐ शांतिः

AWARENESS (IN ŚAIVISM)

— Dinanath Ganjoo

To remain in full harness
Be aware of your awareness

The past is dead
future unborn
Life is present tense
Be aware of your awareness

Life is nothing but awareness
God too is awareness
Live to achieve awareness
Be aware of your awareness

Nothing becomes everything
Only through awareness
Death is loss of awareness
Be aware of your awareness

One can have life eternal
Only through awareness

So that is real business
Be aware of awareness

Presence of mind is awareness
Uplift of soul is awareness
You can realize oneness
Be aware of awareness

Thankfulness is awareness
Worship is simple awareness
Surrender is awareness
Be aware of awareness

See the seer not the seen
Be the being not the been
Without awareness knowledge is a binding
Self knowledge is awareness

Yoga is awareness
Success is awareness
Guard awareness
Be aware of awareness